

## संगत की गत नीकि

### लेखक, अनुवादक – सत्यशील देशपांडे

वामनराव देशपांडे का छोटा बेटा सतीश, अर्थात् मैं ही, अब का सत्यशील (मेरे इस जन्मनाम की पुनर्प्रतिष्ठा मेरे देवास के वास्तव्य में गुरुवर कुमारजी ही ने की, ऑल इंडिया रेडियो का ऑडिशन फॉर्म भरते समय। 'नाम' को लय और वजन प्राप्त होकर उसे 'सगुण' बनाने हेतु।)

एक बार केसरबाई केरकर का विराट परफॉर्मन्स (जैसे कि प्रयोग ने ही उनकी शरण ली हो) चल रहा था, तब पिताजी के साथ मंच को घुटने लगाये हुए तन्मय होकर पूरे शरणभाव से गायन सुनने का मेरा भी प्रामाणिक प्रयोग चल रहा था। बाई जी ने गाना रोक कर पृच्छा की, "हा कोण आहे?" किसी ने कहा कि 'वामनरावजी का बेटा'। फिर निकट बैठे हुए वामनराव सडोलीकर (श्रुती के पिता) को मेरे पिताजी समझकर उनसे कहा, "इसे अच्छी तालीम दीजिये"। और सडोलीकरजी ने हाँ भर दी। तन्मयता का फलित एक ऐसा निष्काम कर्मयोग हो सकता है इससे मैं बेखबर था।

हमारे ही घर में रसिकाग्रणी रामूभय्या दातेजी के सामने मैं निर्भयता से निर्गुण गा रहा था। दातेसाहब ने कुमारजी को उनकी अतिशयोक्त शैली में कहा 'यार कुमार, यह लड़का जब गाता है तब इसकी सीरत इस कदर तुम्हारे जैसी हो जाती है कि सूरत भी तुम्हारे जैसी बन जाती है।'

उस वक्त घर में 'घरंदाज गायकी' का माहौल था। (इसी नाम से १९६२ में 'मौज' प्रकाशन द्वारा प्रकाशित यह ग्रंथ हिंदी में 'घरानेदार गायकी' और अंग्रेजी में 'Indian Musical Traditions' के नाम से अनुवादित हो चुका है और अब इसके तीसरे संस्करण की प्रतीक्षा है।) उत्तर भारतीय

संगीत के 'घराने' याने विशिष्ट एवं विभिन्न सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोणों का कम से कम तीन पीढ़ियों में पाया जाने वाला सातत्य होता है। हर घराने की बढ़त के अपने निजी कायदे कानून होते हैं, इस बात पर कटाक्ष करने वाला यह प्रथम ग्रंथ है एवं इस विषय को लेकर उठने वाले कई प्रश्नों को समाये समेटे हुए है। इस ग्रंथ की सिद्धि हेतु वामनरावजी 'मौज' परिवार के लगभग सभी कवी-साहित्यकारों और विभिन्न घरानों के गायकों की जमघट अपने घर पर जुटाकर अपने आगामी ग्रंथ के एक एक अध्याय का पाठ करते थे। इसपर साहित्यकारों की प्रतिक्रिया-क्रिया, विशेषतः गायकों की साक्षात् गाकर ही व्यक्त होती थी। इन गवैयों की एक दूसरे की गायकी को लेकर व्यक्त होने वाली आलोचनात्मक प्रतिक्रियाओं में वामनरावजी अपने ग्रंथ के लिये कुछ सांगितिक तथ्य तलाशते रहते थे और मैं इन कलाकारों की एक दूसरे पर की गई कभी खूसट तो कभी मार्मिक टिप्पणियों का मज़ा लूटता रहता।

मोगूबाई कुर्डीकर से मेरे पिताजी तालीम हासिल कर रहे थे। उनकी किशोरवयीन गुरुबहन थी किशोरीताई। इस तालीम की ईनायत में छटपटाती हुई किशोरीताई को देखकर खूर के परतबों से फना होने की तालीम पाने वाली शबनम की याद आती थी। किशोरीताई के इस काफिराना अंदाज़ को प्रोत्साहित करने वाले उनके 'वामनरावकाका' का वात्सल्यभाव किशोरीताई की सांगितिक यात्रा में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ है।

उन दिनों भीमसेनजी का मुंबई में वास्तव्य हमारे ही घर हुआ करता था। स्वरभार से नत होकर गाते वक्त ज़मीन छूने वाला उनका हठयोगी मस्तक वामनरावजी की सोहबत में जयपुर घराने के लयदार अंदाज से उन्नत हो रहा था।

केसरबाई—मोगूबाई के सुगठित गानशिल्प की तराश देखकर अवाक् रहना ही संभव था लेकिन इसकी तुलना में मन्सूर जी के गायन में पाया जानेवाला झकझोर उन्माद और बौरायापन पत्थर से फूट उमडने वाले पीपलपत्ते की सुकुमार जिजीविषा का परिचय देता था।

देवधर स्कूल ऑफ इंडियन म्यूज़िक में मंज़िल सामने आते ही भटक जाने वाले फकीराना मिजाज़ के कलाकार और साथ ही सुप्रतिष्ठित साम्राज्यवादी घरानेगार गायक भी अपनी उपस्थिती दर्ज़ कराते थे।

वॉर्डन रोड स्थित 'हशमन' वास्तू में रवीशंकरजी के शिबिर में भी मैं जाया करता था। रवीशंकरजी के वादन में पायी जाने वाली रागविचार की समग्रता और संतुलन से प्रभावित तब मुझसे बुजुर्ग, युवा वादकों की एक फ़ौज मेरे करीब थी। छुटपन में मैंने बागेश्री में रूपक ताल में एक तराना बांधा था। रवीजी को जब सुनाया तो उन्होंने कई बार दोहराने को कहा और सराहा। मुकुल वह तराना आज भी गाता है। कुमारजी को जब सुनाया तब उन्होंने अकस्मात गंभीर होकर फर्माया 'इस तराने का नोटेशन करके रखो।'

बंबई में तब आगरा घराने का याने प्रधानता से विलायत हुसेन, अजमत हुसेन, अन्वर हुसेन आदि हस्तियों का रुतबा बहुत छाया हुआ था। इन खांसाहबों की सर्वाधिक तालीम (ट्यूशन) चित्रापुर सारस्वत समाज में हुआ करती थी। पर आगरा घराने के गायकों में मुझे सबसे भाने वाले थे खादीम हुसेन। उनकी बंदिश की कहन, फेंक, तिहाईयों की उपज और आवेग, तार सप्तक के स्वरों की पुकार... जैसे कोई आक्रंदन, नाला फूट पड़ा हो। यह संस्कार एक अरसा मुझपर छा गए थे, अब भी मेरे सांगितिक आलम का एक हिस्सा अपने काबू में रखे हुए हैं। लताफत खां का लुत्फ़ और रंगीला मिजाज

आफ़ताब—ए—मौसीकी फ़ैयाजखां साहब की इमारत की बुलंदी का सबूत मालूम पड़ता था और उन दिनों मेरा सांगितिक मिजाज़ भी कुछ ऐसा ही हो गया था।

अमीरखां साहब की कूटतानों की भूलभुलैया की संकरी गलियों में खुद को भुलाकर मैं आज भी उलझा हुआ रहता हूँ।

*'नगमा वो नगमा है*

*जिसे रूह सुनाए*

*और रूह सुने'*

कहते कहते स्वरों की शांत मद्धम ज्योती (वास्तव में शमा कहना चाहिये) की धीमी आंच पर राग की खिचड़ी पकाने वाले अमीरखां। उस ज्योती के धुंधले उजाले में भीतर की कालिख की तह की, परतों को उलट पलट करते रहने वाले अमीर खां... जैसे कि उस कालिख के गर्भगृह का अन्वेषण करते हों।

समा बांधने वाले, अनिर्वचनीयता की दिशा का आमंत्रण देनेवाले संगीत का नोटेशन कर, उसका अर्थ तलाशने के बजाय, ऐसा गाना सुनकर, मुझमें ही छिपी सुप्त संवेदनाएं व संदर्भ खिल उठते हैं उपमान उपमेय बन कर, और शब्दों का बौर बन कर भाषा का मंडप सजाने लगते हैं, यह मेरी मजबूरी है।

रागरूप, याने रागतत्त्व जिसमें समाया होता है, उस राग की तर्ज़ (स्वरों की gait) पर हावी होकर राग के स्वरों के अलग अलग भांती के संवाद बड़े चैनदारी से अमीरखां स्थापित करते हैं। इन्ही संवादों के फलस्वरूप उनके गाने में यह गूढ अनिर्वचनीयता आती है, ऐसा musicological प्रतीत होने वाला स्पष्टिकरण मैं दे सकता हूँ। और उस दिशा की तरफ़ गा कर संकेत करना मुझे अधिक आसान और खालिस लगता है। लेकिन लिखना बड़ी टेढ़ी खीर बन जाता है। कभी हलकेसे तो कभी झट से पलटी मार कर रुख बदलने वाला कला का चंचल मीन शब्दों के

आमिश को छूता तक नहीं, न ही शब्दों के फंदे में फंसाया जा सकता है।

बचपन में ऐसे संस्कार मैं पा रहा था। आज भी उनका साथ छूटा नहीं है। वक्त की रेत खिसकती रही पर दरिया-ए-दिल में कइयों के नक्ष-ए-पा मुकर्रर होते रहे।

मेरे चाचा याने डॉ. नानासाहेब देशपांडे एक खुशमिजाज शख्सीयत थे, जिनको सभी कलाकार चहेते थे। आप सवाई गंधर्वजी के दामाद थे। निष्ठा और उत्साह से अपने ससुरजी की पुण्यतिथी का भव्य महोत्सव करनेवाले शायद ही कोई अन्य दामाद हो। उस वर्ष मई महीने में मैं छुट्टियां बिताने अपने इन्हीं चाचाजी के घर पुणे आया था। पिताजी ने कहा, 'एक महीना पुणे रहनेवाले हो तो चंपूताई (हीराबाई बडोदेकर) के पास गाना सीखो। वे भी अपने परिवार की सदस्या की तरह हैं।' मैंने उन्हें गाकर दिखाया - कुमारजी की अदा में, वसंतरावजी की अदा में। उन्होंने सरस्वतीबाईजी की ओर देखा और कहा, 'इसके गले में जो नचकैयापन और चंचलता है, इसे पहले साफ मिटा देना चाहिये।' यह सुनते ही मैं अपने गले में मंडरानेवाली वे सारी तितलियां बटोरकर वहां से चंपत हो गया।

---

मेरी पुरानी आदत है - बताने कुछ लगता हूँ और याद कुछ और ही आता है। आज तय कर बैठा हूँ कि कुमारजी को केंद्र में रख कर दीर्घ काल तक जिसे 'शास्त्रीय' कहा गया - उस संगीत के स्वभाव के बारे में और उस संगीत को गाने वाले कुमारजी के बारे में दो-पांच पीढ़ियों में कईयों को लगनेवाले 'तिरोभाव' को लेकर प्रासंगिक कुछ लिखूँगा। लेकिन याद आ रही है कुमारजी ने गाई हुई कबीर की पंक्तियां :

*झीनी झीनी झीनी झीनी बीनी चदरिया !  
काहे के ताना काहे के भरनी  
कौन तार से बीनी चदरिया  
विशेष रूप से : सो चादर सुर नर मुनी ओढ़ी,  
ओढ़ के मैली कीनी चदरिया  
दास कबीरा जतन से ओढ़ी  
ज्यों कि त्यों धर दीनी चदरिया !'*

हिंदुस्तानी राग संगीत के ख्याल को लेकर कहें तो कहना पड़ता है कि स्वर को, राग को तलाशना, बंदिश में छिपे विशिष्ट राग-रूपों के सुप्त संकेत और उनके पहलुओं को जानना-पहचानना कलाकार के लिये आजीवन चलनेवाली प्रक्रिया बन जाती है। प्रतिभासम्पन्न कलाकार बंदिश की बढ़त करते समय राग की तर्ज़ (gait) तय करनेवाली स्वरावली, उस तर्ज़ के आस-पास का राग-प्रदेश, लयक्रीडा, शब्दों के भाषिक अर्थ एवं नाद-अर्थ, बलाघात, सौंदर्य आदि विविध बातों का एक अपना अनोखा ताना - बाना बुनता है। इससे ख्यालगायकी के कलामूल्य निर्धारित होते हैं और परंपरा, घराना आदि के संकेतों का सूतोवाच भी। समकालीन मुहावरे (contemporary idiom) को अपने में समाविष्ट कर यह कलामूल्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रवाहमान रहते हैं। पारंपारिक कलामूल्य एवं उनसे जन्म लेनेवाली परंपरा समावेशक होती हैं। परंपराएँ परिवर्तनशील होती हैं प्रतिभाशाली कलाकारों के निजी संवेदनाओं के पट ओढ़ने के लालायित यह कलामूल्य लचीले होते हैं, अडिग (static) नहीं होते। यही प्रतिभा, सृजन, उपज का क्षेत्र होता है। परंपरागत कलामूल्यों के कर्मकांडी रूढ़ियों में तब्दील होने के कारण अवरोध में जकड़ी गान-धारा तथा कला चिंतन की घरानेदार चादर सिर पर ओढ़

---

१ - तिरोभाव : गाते समय राग में निहित सम्भावनाओं को जांचते हुए किसी स्वरवाक्य की उपज से सभ्रम होता है कि राग रूप में कहीं तबदिली, दोष न आ पड़े। लेकिन इस काले टीके के लगाव से राग का चेहरा और खिल उठता है। इसे उस गायक की प्रगल्भ प्रतिभा का लक्षण माना जाता है लेकिन आकाशवाणी के ऑडिशन में यदि ऐसा 'तिरोभाव' नज़र आया तो उस गायक को अक्सर अनुत्तीर्ण करते हैं।

कर कुमारजी कभी वह सडांध गर्मी सेंकते नहीं रहे । कुमारजी ने परंपरागत कलामूल्यों की चादर 'जतन से ओढ़ी' और जैसी थी वैसी धर दीन्हीं । पर यह चादर आप ने अपने लिये स्वयं बुनी थी। ताने बाने बड़े सजग सुजान मन से बुने थे । इस बुनावट में अब्दुलकरीम खां, ओंकारनाथ ठाकुर, फैयाज़ खां जैसों की कलाबत्तू की बेलबूटी लाजवाब रूप से घुलमिल गई थी और साथ में निर्गुणी धागा भी ।

मेरे हिस्से आए कुमारजी — अर्थात् पद्मविभूषण डॉ. कुमार गंधर्व को इस लेख में मैंने 'नायक' की भूमिका दी है। कुमारजी सचमुच नायक हैं । हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत परंपरा में रचनाकार होकर वाग्गेयकार गायक को 'नायक' पद से संबोधित किया जाता है । कुमारजी में यह सबकुछ था । मेरी नौ साल की उम्र से लेकर आज तक — आज कुमारजी के महाप्रयाण को भी १३ साल हो चुके हैं — उनके मेरे रिश्ते के ताने-बाने में अभी अभी बुने हुए नए कपड़े की ताज़ी गंध है । 'सुलझे हुए', स्थिर, रूढ़ी बनने जा रही जड़ सांगितिक संकल्पनाओं के आड़े आने वाले धागों के सम्मुख उलझन में डालने वाले नवकल्पनाओं — प्रस्तुतियों के धागे ठाड़े रहते हैं, नई बुनावटें बुनते रहते हैं । मैं कभी ये धागे उधेड़ता हूँ, कभी बुनता हूँ । कभी तह करता हूँ कभी परत खोलता हूँ । हाँ एक बात है कि चादर और राह अभी भी मैली नहीं हुई है ।

जो नहीं जानते उनके लिये कह देता हूँ कि सुगम संगीत में पांच, छः, सात, आठ मात्राओं के ताल इस्तेमाल किये जाते हैं । इनके आवर्तन अल्पजीवी होते हैं । और अभिजात संगीत में झपताल, एकताल, झूमरा, त्रिताल जैसे दस, बारह, चौदह, सोलह मात्राओं के दीर्घजीवी आवर्तनों के ताल प्रयुक्त होते हैं। उनका पहला 'भरी' और दूसरा 'खाली' नाम से संबोधित आधे-आधे हिस्से होते हैं । यह खासियत मात्र हिंदुस्तानी ताल पद्धति की ही है । बंदिश गा देने के बाद आवर्त

न में मात्र मुखड़ा ही दुहराया जाता है । आवर्तन की शेष विस्तृत जगह कलाकार को अच्छे-बुरे ढंग से राग रूप बांधते रहने के लिये उपलब्ध होती है ।

हिंदुस्तानी संगीत के संबंध में कहना हो तो कला के रहस्यमयी प्रदेश शास्त्र एवं व्याकरण की सीमा से सटे हुए होते हैं । मेरी यह धारणा है कि कलाकार गाते समय शास्त्र-व्याकरण और उससे सटे हुए कला के गूढ़रम्य प्रदेशों की लचीली सीमारेखा पर एक के बाद एक आनेवाले आवर्तनों की शृंखला को झुलाता रहता है।

कुमारजी और मेरे बीच चालीस वर्षों से भी अधिक के इस रिश्ते की यह अटूट शृंखला — शास्त्र और कला की इसी सीमारेखा पर आज भी हिचकोले खा रही है ।

मेरी सांगितिक भ्रमरवृत्ती, आशा-निराशा के तनाव और अपनी धुनी में धुन लगाकर मस्त बैठे हुए गुरुजी की कभी बेपरवाह तो कभी वत्सल तो कभी सनकी सीरत की कुछ गांठ-गुथियाँ यहां हैं तो कभी उनके छुईमूई सुरों की अनछूई कसक और छुई पुलक भी यहाँ है ।

हाँ, इतना सही है कि इस शृंखला पर, इस समान धागे पर आज भी ख्याल, मध्यलय में बद्ध गाना झूल रहा है । लफ्फेदार आवर्तन चल रहे हैं । इसका कारण यह है कि हमारे नायक आज भी इस शृंखला का एक छोर जितनी दृढता से धरे हुए हैं उतना ही इस शृंखला का दूसरा छोर शुरु से ही मैंने हौले से मेरी सुकुमार पकड़ में रखा है । और मेरा दूसरा हाथ मुक्त है । यदि ऐसा नहीं होता तो अकेले, अपने ही कोष में रहकर इसी शृंखला से खुद को ही कोड़े लगाने या सहलाने वाला narcissism भर हो जाता । कलाकार ने ऐसी कलात्मक शहादत में खुद को ढालने से कलाविचारों में न ही कभी पूर्णता आ सकती है

और न ही उन विचारों की परख होने के लिये कोई कसौटी बन पाती है।

*हज़ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पर रोती है  
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा !*

हां तो उस वक्त घर में और आस-पास महान कलाकारों की जमात और मेले होने से मुझे शौक चढ़ा था कि मैं एक छोटीसी कापी में उन सब के संदेश और हस्ताक्षर ले लूँ। हीराबाईजी ने संदेश दिया था, 'घराने की (याने उनके) शुद्धता बनाए रखो !' एक खांसाहब ने लिख दिया 'रोज़ाना अठारह घंटे रियाज़ करो और बाद में चिल्ला करना'। राजा बड़ेजी की बात बढ़िया थी। उन्होंने 'पाती' में लिखा, 'संदेश दियो ना जाय, गुणी रहत उसे नित खाय'। कुमारजीसे जब पूछा तो उन्होंने दो घंटे कागज़ पर होमवर्क किया और हिंदी में ही लिख दिया –

'कला की निर्मिती आसान है।

कला का आस्वाद लेना संपर्क पर निर्भर है।  
लेकिन कला का मर्म समझना महाऽऽ कठन  
है।'

यह 'संदेश' हज़म करना आज भी मुश्किल लगता है। कितना अलग था वह शख्स !

ऐसा वातावरण मैं अनुभव कर रहा था और ऐसे संस्कार ग्रहण हो रहे थे। मुझे कुमारजी के अनोखेपन का एहसास होने लगा था।

उनके गायन की ताज़गी और जीवन के हर पहलू से अठखेलियाँ करती हुई उनकी मनोभूमिका की मोहिनी मुझपर अपना असर करने लगी थी।

इस दरमियान याने १९६२ में पिताजी की अनुमति से कुमारजी मुझे अपने साथ नागपुर, अमरावती, रीवाँ, जबलपूर, भोपाल की यात्रा पर उनके कार्यक्रम हेतु ले गए, रेल्वे के फर्स्ट क्लास से ! और बाद में देवास में दीर्घ काल तक डेरा। मैं गुनगुनाता रहता था – बिगड़े फौवारे-सा। मेरी इस बेशर्मी पर उन्होंने कोई आपत्ती नहीं उठाई। फिर भी हर स्थान वे मुझे अपने मित्रों के समक्ष बंदिशें सुनाने को उद्युक्त करते थे। भोपाल में तो मैं उनके पूर्व लगभग पौना घंटा गाया था, वहाँ के फिनान्स सेक्रेटरी गोड़बोलेजी के घर में। मेरा menu था राग यमन का ख्याल 'जियो करो कोट' और उसका जोड़ 'कल नाही आए' और उसके बाद 'तोड़ लाई राजा' तथा 'निर्भय निर्गुण'। वहाँ से देवास पहुँचने पर उन्होंने वामनरावजी को लिखे पत्र में मेरे गान गुण को कौतुक से सराहा था। यह पत्र मैंने आज तक संजोकर रखा है। बड़ा मज़ा आया था देवास में। पूरे महीने में ऐसा कभी नहीं हुआ कि कुमारजी तबला तानपुरा लगाकर मुझे या किसी को गाना सिखाने बैठे हों, या खुद रियाज़ कर रहे हों। उनका गुनगुनाना कानों पे पड़ता था – कभी बगीचे में काम करते समय, कभी बग्गी में बैठ कर जाते समय और अक्सर खाने की मेज़ पर। कितना बहुविध और अनोखा हुआ करता था उनका गुनगुनाना। मुझे आज भी याद है उनका 'सुनो सखी सैया जोगिया होई गया' और गारा का तराना। शुद्धकल्याण वाली 'बतियां दूरा' मुझे कण्ठस्थ थी। लेकिन पहली बार पता चला कि सही शब्द 'बतिया दौरावत (दोहरावत) ऐसो सुगर बना' हैं। यह बंदिश कहने का उनका अंदाज़ आज भी रौंगटे खड़े कर देता है।

इस दौर में मैंने जो अनुभव किया, जो सुना उससे यह ज्ञात हुआ कि कुमारजी का अपने निवास में रहन-सहन, जीना यह मात्र मंच से गाना प्रस्तुत करने के सीमित उद्देश्य से:— गाने का definite product पेश करने से प्रभावित न था। मुझे लगता है गाना उनके

लिये सुनिश्चित product की निर्मिती न थी बल्कि राग तथा धुन पुनःपुनः पत-दर-पत खोलते रहने की प्रक्रिया (process) थी। सच है, घट में निर्झर भरा नहीं जाता, उसका पानी ही मात्र भरा जा सकता है।

*निर्झर का तट, खाली घट  
कैसे अझर झरें?  
प्रेम पवन से बाति डरें  
जरें (जलें) तो कैसे जरें?*

मैंने बाद में कई ऐसे लोकप्रिय कलाकार देखे हैं जो लगातार कार्यक्रम करते हैं या उन छोटे-बड़े कलाकारों को भी देखा है जो कभी-कभार मिलनेवाले कार्यक्रम प्रस्तुती की ताक में गाने को एक definite product समझ कर उसका रियाज करते रहते हैं। रियाज, तैयारी सबकुछ ख्याल के 'महाकाव्य' के मंचप्रस्तुती हेतु! ऐसा कलाकार जिसपर किसी धुन का 'हायकू' सवार होकर वह स्वांतसुखाय ही उसे गुनगुना रहा हो या सुना रहा हो ये मैंने बहुत कम देखा। मैंने देखे हुए बहुत से कलाकारों का गाने का घरेलू रियाज कार्यक्रम में अपेक्षित, हमेशा हाजरी देनेवाले सुखी, संपृक्त श्रोताओं के लिए ही हुआ करता था। घर में वामनरावजी भी तबलची को बुलवाकर सालों साल रियाज करते आए थे - छः छः महीने बाद आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले उनके कार्यक्रम को मद्दे नजर रखते हुए ही! अधिकांश गायकों की यही धारणा रहती है कि गाना कार्यक्रमों के लिये ही होता है। गुनगुनाने के लिये नहीं। मानो महफिल के परे गाने का कोई अस्तित्व ही न हो। कुमारजी उसका अपवाद थे। एकबार उन्होंने मुझसे कहा था, 'बेटा, गुनगुनाने की देन सभी गवैयों को नसीब नहीं होती'। कई गायकों की आवाज का लगाव मंच से जनता को सुनाने वाले गाने हेतु मात्र ही बनाया हुआ होता है। मिसाल की तौर पर केसरबाई केरकर, भीमसेनजी। वे गुनगुना नहीं सकते। कई कलाकारों की बोलते वक्त की आवाज और गाते वक्त की आवाज में

कोई साधर्म्य नहीं दिखता। बड़े गुलाम अली और कुमारजी के गाने और बोलने की आवाज एक जैसी थी। दोनों ही मध्यसप्तक के पंचम के पास बोलते थे। और दोनों अकेले में गुनगुना भी सकते थे। गुनगुनाना उनका शौक था और महफिल में जोशभरी रोबदार आवाज लगाना भी उन्हें आता था। महफिल सजाकर भी गुनगुनानेवाले कलाकारों की संवेदनाओं की व्याप्ति अधिक विस्तृत होती है। उनकी आवाज कभी भव्य बुलंद लगती थी तो कभी धीमी, कोमल, आर्त, संवेदनशील! गाना महफिल के लिए, या स्वयं के लिए, या दोनों के लिए? इसकी ओर देखने का कलाकार का अपना नजरिया होता है। वामनरावजी बताते थे, उनके गुरु सुरेशबाबू दम-ब-दम ऐसा मोहक गुनगुनाते थे, कि वह सुनकर यदि किसीने उनके गाने की महफिल आयोजित की, तो वे इस कदर उखड़ कर गाते थे कि सुनने वाले को बहुत सितम ढोने पड़ते थे।

---

देवास में मेरे साथ था मुकुल। तब वह मुक्या था - शिवपुत्र बनने को अभी बहुत देर थी। एक दूसरे से आँख मिलते ही बड़ी हाज़िर जवाबी से 'होश खो बैठे हम लोग'। जैसे अब तक एक दूसरे से अपेक्षित दुलार की प्रतीक्षा ही में हम बैठे हों।

तब कुमारजी ने हमें बुजुर्गों के 78 rpm रेकॉर्ड्स सुनाकर हम में वह शौक पैदा किया था। अनजाने में उन गायकों के भिन्न सांगितिक व्यक्तित्व और उनकी गायकी का खुमार मन पर अंकित होता गया। फैयाजखां, रहिमत खां, रोशन आरा, बरकत अली, केसरबाई, न जाने कितने लोगों को सुनाया। उन्होंने वामनरावजी को पत्र लिखा, 'सतीश और मुकुल का रेकॉर्ड सुनने का रियाज बढ़िया चल रहा है'।

मुझे याद है, वह कुमारजी की प्रथम पत्नी भानुताईजी का स्मृतिदिन था। मित्र, परिचित आए थे। कुमारजी ने मुझे और मुकुल को गाने के लिये बिठाया। बाद में वामनरावजी को पत्र लिखा — ‘बड़े गवैये जैसे गाते हैं, बच्चे उसी तरह गाए। इसी के बलबूते पर मैं देवास के टाउन हॉल में होने वाले समारोह में दोनों के गाने का कार्यक्रम आयोजित कर रहा हूँ। प्रमुख अतिथी होंगे मध्य प्रदेश के राज्यपाल हरिभाऊ पाटसकर।’ उस कार्यक्रम के लिए उन्होंने मेरे लिए कुर्ता पजामा और जाकिट सिलवाया। मीना बाज़ार से बूट खरीदे। उस डेढ़ महीने में गाना तो छोड़िये, कुमारजी के व्यक्तित्व में स्थित मासूम बालक के कौतुहल से, उनकी गोटी खेलते समय की अचूक निशानेबाजी, शतरंज की बुद्धिमानी, शब्दों की अनोखी पहचान और उन शब्दों का होनेवाला कमाल का अजीब उपयोग, किसी के कुछ कहने पर उसकी तुरंत और अनपेक्षित प्रतिक्रिया आदि से मैं बेहद अभिभूत हुआ था। मैं उनके अधिकाधिक निकट आ रहा था। मुंबई के 58/B वालकेश्वर रोड पर स्थित हमारे घर का सीलिंग फॉन वामनरावजी समान ही समशीतोष्ण और स्थितप्रज्ञ था। सालों साल एक ही लय में घूमता था। किसी को यह अत्युक्ति लगेगी लेकिन यह सच है कि इस सीलिंग फॉन के नीचे पले बड़े हुए मुझे दिन के प्रहर, दोपहर के घाम, रात्री के याम और ऋतुओं के मृदगंध का अहसास हुआ — वह कुमारजी के कारण ही! जीवन के अनेक अंगों में और विविध बातों में रस लेते हुए इतनी लगन और चाव से जीने वाले व्यक्ति के संपर्क में मैं पहली बार आया था। सिर्फ उनके गाने से नहीं, उनके समूचे व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मैं मुंबई लौटा था।

कालावधी सन १९६२ से लेकर १९६७ की। बंबई पूना के सांगितिक आलम में तब कुमारजी बहुत छा गए हैं, बहुत जम गए हैं, ऐसा माहौल नहीं था। पिताजी के पास आने

जाने वाले संगीतकर्मियों से मैंने कुमारजी के बारे में प्रतिकूल वक्तव्य ही अधिक मात्रा में सुने।

जगन्नाथबुवा पुरोहितजी ने चिंता भरे स्वरों में वामनरावजी को प्रश्न किया था, “क्या कुमार का कोई घराना भी है?”

एक बार वामनरावजी की उपस्थिती में, भीमसेनजी की बहुत उत्तेजित होकर कुमारजी से बहस छिड़ गई। उसका मैं गवाह था। भीमसेनजी कह रहे थे, “सुनो कुमार। मैं जब ‘पिया तो’ कहता हूँ (काफी राग की इस तुमरी के इन शब्दों का अर्थ तब उन्हें प्रियकर ही अभिप्रेत था) तब श्रोताओं ने मन में ‘मानत नाही’ कहना चाहिये यही मेरी कामना होती है। तुम्हारी सोच ऐसी होती ही नहीं है। यह ग़लत है। लोगों को ऐसा गाना सुनाने का क्या मक्सद? कैसे सुन पाएंगे वे? तुम्हारा ऐसा गाना मैं और वामनरावजी सुनेंगे।” कुमारजी ने सय्यम बरतते हुए बड़ी शांती से और क्षमाशील होकर भीमसेनजी की उक्तियां चुपचाप सुन ली थीं।

मन्सूरजी ने एक बार कहा “गायकी ‘कुठे आहे?’ पर सुर बढ़िया लगाता है।”

आरोलकर बुवा कह पड़े “कुमार गायन के बीच ऐसा उखड़ता है कि जैसे तृप्ती का भाव बनाए स्थिर मुद्रा में बैठे हुए गणेशजी अकस्मात हाथ में स्थित मोदक पटक दें और तलवार धर कर वार करें।”

कुमारजी के बारे में मैंने अच्छी बातें सुनी तो मात्र रविशंकरजी से और केसरबाई से।

केसरबाई ने कहा, ‘कुमार का मामला अलग है।’

रविजी वामनरावजी से हमदर्दी से पूछते रहते थे ‘कुमार का क्या चल रहा है?’

वास्तव में उनके सुरीलेपन ने सब की सीट्टी गुम कर दी थी। (वामनरावजी ने भी लिख रखा है, “अब्दुल करीम खां के जाती की नहीं मगर उसी स्तर की श्रुतियां केवल कुमार के गायन में पायी जाती हैं”)

परंतु जलसे में कुमारजी जमें हैं, ऐसा प्रसंग बहुत बिरला, इस बात की मुझे पीड़ा होती थी। हो सकता है कि इन्हीं बुजुर्गों की मंडली के बीच बैठकर मैं कुमारजी का गायन सुनता था। गाना सुनते सुनते इन लोगों को भी मैं मुग्ध भाव से निरखता रहता, और कुमारजी के गायन के कुछ हिस्से को लेकर ये लोग खुश नहीं हैं, इस बात का असर मुझपर होकर मेरी भी धारणा वैसी हुई हो? मगर इन्हीं लोगों का गायन, इन लोगों की गायन की समझ को समझते हुए बहुत समझदारी से सुनते हुए मैंने कुमारजी को देखा है।

कुमारजी के साथ मैं सफर के लिये निकला, उसके ठीक दो ही दिन पहले घर में मोगूबाई कुर्डीकर का गायन था ‘घरंदाज गायकी’ को अकादमी का पुरस्कार मिलने के उपलक्ष्य में। उपस्थितों में से कुछ नाम याद आ रहे हैं, वसंतराव देशपांडे, पु.ल. देशपांडे, अनंत काणेकर, मामा वरेरकर और कुमारजी। मोगूबाई का गायन कुमारजी इतना तन्मय होकर सुन रहे थे की मोगूबाई को अचरज हुआ। बादमें कुमारजी ने वामनरावजी से पूछा, “गाना मैं सुन सकता हूँ, यह तो मोगूबाई को मंजूर होगा?”

बुजुर्गों की जो प्रतिक्रियाएं मैंने लिखी हैं, वह कुमारजी के ख्याल गायन को लेकर ही रहीं हैं। यही समस्या का क्षेत्र था। कुमारजी के मध्यलय और द्रुतलय के गायन का प्रभाव काफी गायकों पर पड़ता दिखाई देने लगा था। मुझे भी इन संस्कारों का जो आकलन तब हुआ था, उसे मैं आज भी बचकाना नहीं समझता। उनका महफ़िल में पेश होनेवाला ख्यालगायन मेरे लिये भी एक अनबूझ पहेली ही था।

अमूर्त से आनेवाले उनके तेजोमय स्वरों का प्रवाही सत्य, गायन के विभिन्न घरानों की बढ़त के तर्कशास्त्र पर तुच्छता का कटाक्ष कर रहा हो ऐसा प्रतीत होता था। कुमारजी जिसे कहे जा रहे थे वह कहानी सिलसिलेवार नहीं लगती थी। गाना बीच ही में कहीं अटक फंस रहा हो ऐसा भी कोई कह नहीं पाता था इसीलिये कि उनके स्वर का सुरीला चैतन्य उस अटकाव का भी सौंदर्य शास्त्रीय स्पष्टिकरण देता था और उसकी पुष्टी करता था। ये सब मेरी ही अनुभूतियां थीं यह कहने से उचित तो यही होगा कि, घर ही में विरासत में प्राप्त, भली बुरी सांगितिक संस्कृती का मैं शिकार बन चुका था। जिसे मैं मेरी अनुभूतियां समझ रहा हूँ, वह इस मुफ्त में मिले सांस्कृतिक लाभ की प्रतिध्वनी थी और प्रतिनिधित्व भी।

इतना तो सच है कि किसी भी राग का ख्याल पेश करते वक्त घिसे पिटे सांगितिक मुहावरों का उसी क्रम से हरहमेश विपुलता से वितरण करने वाले उनके समकालीनों की तुलना में कुमारजी के गायन में पाया जाने वाला ‘बहुरी अकेला’पन, एक अनाम पीड़ा भीतर में छिपाये हुए हठधर्मी रूठे बालक की भांति प्रतीत होता था। ‘खबरदार! मेरा हाल पूछने का साहस कोई करे तो’ ऐसी धाक। और इसे मनाने की चेष्टा करो, तो गुस्से से खुद ही फूट पड़ेगा ऐसा क़रीबवालों को डर। कुमारजी के व्यक्तित्व से और अन्य गुणों से प्रभावित ‘केवल कुमारप्रेमियों’ ने कुमारजी के ख्यालगायन का यह तनाव, यह भार स्वयं का ही प्राक्तन समझ कर खूब ढोया। टस से मस नहीं हुए। यह मैं अनादरयुक्त व्यंग नहीं कर रहा हूँ। मुझे वास्तव में औत्सुक्य है इनकी संवेदनाएं जानने का। पर कई बार कुमारजी की संगत में तानपुरे पर बैठे हुए मुझे यह तनाव असह्य होता था।

राग के क्रमवार बढ़त के लिये आलाप, बोल-आलाप, बोलतान, तान जैसे प्रकारों के



और इन्हीं प्रकारों के उपप्रकारों के आठ अंगों के उपयोग को 'ग्वालियर' घराने की सांगितिक परिभाषा में अष्टांग कहते हैं। घरानेदार मंडली इन सभी या इन में से कुछ चुनिंदा अंगों को अपने गायन में निश्चित रूप से उपयोग में लेती थी। यही बात थी जो कुमारजी के गायन में नहीं पायी जाती थी।

मेरा ऐसा अंदाज़ है, कि १९५५ के आसपास रामूभैया दाते, पु.ल. आदि ने 'अभ्युत्थानम् अधर्मस्य' इस संगीत में फैले अधर्म का नाश करने हेतु पैदा हुआ यह श्रीकृष्णावतार है, चमत्कार है, ऐसा समाजिसको लेकर बांधा था, वह कुमार गंधर्व महफिल में ख्याल, मध्यलय, द्रुत आदि रागसंगीत के रूढ forms ही गा रहा था। उसी आखाड़े में अपने गायन में बढ़त के नाम पर निश्चित दांव कसने वाले और पंच डालने वाले अन्य गायकों को कुमारजी के गायन में अष्टांग ढूंडे नहीं मिल पाता था, कुमारजी की टांग वे पकड़ नहीं पाते थे, न ही उनकी खामियों को जकड़ पाते थे। उन्हें अचंभा होता था कि कुमारजी जो चल पड़े हैं, वह कौनसी दिशा का आमंत्रण है? मुझे लगता था, कहीं दूर... बहुत ऊपर... एक अलग ही दुनिया की संदिग्धता वे बटोर रहे हैं।

*मणी एक एक उणा,*

*जपताना (जपातला 'ज' आणि जपण्यातला*

*'ज') जन्मखुणा,*

*टिपतो आभाळखुणा,*

*पारधी दिवाणा.*

यह सिलसिला करीबन १९६७ तक चलता रहा। संगत बनी रही। कुमारजी का बंबई में हमारे घर ठहरना, मेरा छुट्टियों में देवास जाकर बसना जारी रहा। कुमारजी के साथ मैने सफर भी बहुत किये। हुबळी - धारवाड - बेळगाव - हंपी - लातूर - पटना

—अलाहबाद। इस सहवास में महसूस हुआ कि आज की तारीख में कुमारजी जैसा गायन की समग्रता के प्रति जागृत, चौमुखा और संवेदनशील गवेया दूसरा नहीं है। आगरा, जयपुर, ग्वालियर घरानों के गायकों के पेचीदा, बिकट आवर्तन और पेचोखम बंबई के रसिकवृंद ने सर-आंखों पर उठा रखे थे। इन्हीं की सोहबत और संस्कार के फलस्वरूप, मेरे नन्हें से मस्तिष्क पर मेरा ढोया हुआ यह मौल्यवान भार अब हौले हौले हलका हो उतर रहा था। मालवी लोकधुनों में पाये जाने वाले चमकीले पेचे से सजे हुए 'पाग' (याने कुमारजी ही) को मेरे सर पर धरू तो मैं और जचता हूं ऐसा मुझे अब लगने लगा था। इस पेचे की बात कुमारजी 'बोल्या', तो 'म्हने प्यारा लागो'। साथ ही मैं मुझपर उतना ही असर करने वाली बात थी वसूधराताई के स्वरो में अचूक साकार हो उठने वाली, लोकगीतों में पाई जाने वाली, सब कुछ सह कर वात्सल्य बरसाने वाली, जीवन के सीधेसाधे क्षणों का उत्सव करने वाली स्त्री की संकल्पना। ताई के स्वरो की घनी छांव गुरुजी जहां 'बैठण' के लिये आएंगे उस 'गेरा गेरा झाड झारी' की सी लगती थी।

*'गुरुजी जहां बैठें वहां छाया जी*

*सोही तो साहिब म्हारी नजरान आया जी.*

*गेरा गेरा झाड झारी शीतळ छाया*

*म्हारा हो सदगुरु बैठण आया जी.'*

कुमारजी की सांगितिक प्रतिभा की व्याप्ति लोगों को समझे इस उर्मी से कुमार प्रेमियों ने 'अनूप' नामक संस्था स्थापित की। ये कुमारप्रेमी अधिकांश स्थापत्यशास्त्र के नौजवान स्नातक, साहित्यकार और रंगकर्मी थे। इनमें संगीतकार एक भी नहीं था। इस संस्था द्वारा प्रस्तुत जो जो कार्यक्रम हुए उनके बारे में मैं थोडा बहुत कहना चाहूंगा क्यों कि इसमें मेरा

सांगितिक एवं मानसिक सहभाग है। अनूप की ओर से वर्षा, हेमंत, वसंत इन ऋतुओं को मद्दे नज़र रखते हुए किये हुए आविष्कार प्रस्तुत हुए। ये कार्यक्रम इक्का दुक्का बंबई में तो एक आध पूना ही में केवल प्रस्तुत हुए। “चलो एक बारगी लोगों को सुना दिया। अब कुछ और करने को मुक्त हो गया हूँ।” यह कुमारजी का वक्तव्य था। इन कार्यक्रमों की नवीनता से मोहित कुमारजी के खास चहेतों का समुदाय निर्माण होने की नींव यहीं से पड़ी।

अपने ख्याल गायन में से “बेशुमार सांगितिक सामग्री का वितरण करने वालों ने” यह कार्यक्रम सुने तक नहीं। पूना में गीत वसंत को जोड़ कर दूसरे दिन आयोजित महफिल में कुमारजी भीमपलास और पूरिया धनाश्री गाये थे। आम तौर पर रसिकों को और खास तौर पर पु.ल. और सुनीताबाई को यह पारंपारिक ढांचे की महफिल ही अधिक पसंद आई थी।

इन कार्यक्रमों द्वारा अभिजात संगीत की बंदिशों के साथ मालवा के लोकमानस से उमड़ने वाले गीत और ऋतुओं की गंध महाराष्ट्र के सभाघरों में आई। ये तीन कार्यक्रम याने राग संगीत की मध्य और द्रुत लय की बंदिशें और चैती, तुमरी, टप्पा, होरी के साथ साथ बारहमासी और और अन्य लोकगीतों का सम्मिलन – collage था। मालवी जीवन का चाल चलन, श्रद्धाएं, उनके त्योहार, वो मनाने वाले मालवी मानस की मुग्ध निरागसता का मनोहर दर्शन इन कार्यक्रमों में हुआ। ये अनोखे कार्यक्रम कुमारजी के सांगितिक समग्रता के, उनकी परिशीलन की व्याप्ति बताने वाले निश्चित ही थे। ये कार्यक्रम कुमारजी के संगीतिक परिशीलन का अंतिम सारांश है ऐसा कुछ लोग अर्थ निकालते हैं। (मुझे वह मंजूर नहीं क्यूं कि इस दृष्टिकोण में कुमारजी की अवहेलना है। इन कार्यक्रमों को लेकर कुमारजी की भी ऐसी धारणा नहीं थी)। एक तो राग संगीत की बंदिशों को धर कर उनके भीतर का ‘गाना’ ढूंढने की, पनपाने की उनकी

करतूतें इन कार्यक्रमों के पहले और पश्चात भी जारी रहीं और वह इन उपक्रमों से ज़्यादा मौलिक एवं चिरस्थायी है ऐसी मेरी धारणा है। और दूसरी बात, इन कार्यक्रमों में अंतर्भूत सभी गानप्रकारों की उपज की, शक्यताओं, संभावनाओं की आजमाइश इन्हें अपनी महफिलों में ख्याल के बराबर पेश करके अपने संपूर्ण जीवनकाल में कुमारजी ने जारी ही रखी थी। इन कार्यक्रमों की प्रेरणा का श्रेय कुमारजी देवधरजी को देते हैं क्यूं कि ऐसे अभिनव ढांचे का ‘होरी’ का कार्यक्रम कुमारजी को साथ लेकर देवधरजी ने बहुत पहले प्रस्तुत किया था।

---

अनूप द्वारा ‘त्रिवेणी’ यह मीरा-सूरदास-कबीर के पदों पर आधारित कार्यक्रम प्रस्तुत हुआ। भजनों में कुमारजी का योगदान अपूर्व और अप्रतिम है। कुमारजी ने भजन किये नहीं। वे भजन गाए। भारत भर में भजन की सुदीर्घ परंपरा है। विशाल जनसमुदाय को इकट्ठा धर बांधे रखने की क्षमता, सामुदायिक गायन की सुविधा केवल भजन में ही है। इसीलिये शायद भजनों के गायन में खूब कलात्मक खामियां पाई जाती हैं। मंत्रपाठ, या प्राथमिक पाठशालाओं में गाये जाने वाले राष्ट्रगीतों में पाए जाने वाली गायकी का ‘मज़ा’ लेना हो तो ‘आस्था’ या ‘संस्कार’ जैसी वाहिनियां (tv channels) कोई सुन के देखे। जनता को इतना आसान, सुगम लगनेवाला, इतना ‘सामान्य’ संगीत दूसरा नहीं होगा। कुमारजी को यह श्रेय देना चाहिये की उन्होंने भजन को एक कलात्मक स्तर पर पहुंचाया और एक सांगितिक आकारबंध के नाते उसकी प्राणप्रतिष्ठा ‘शास्त्रीय’ मंच पर की। भजन को उन्होंने सांगितिक चिंतन का माध्यम बनाया। संतकवियों के काव्य का, पदों का उन्होंने संगीत में अनुवाद किया। खुद को

भानेवाली आकर्षक स्वररचनाओं का make up चढा कर उन्होंने भजनों को face lift नहीं दिया। कबीर, मीरा, सूरदास के पदों को स्वरबद्ध करने से पहले इन संतकवियों के सृजन के पीछे उस काल की सांस्कृतिक, सामाजिक परिस्थितियाँ, उन संतकवियों के मनोव्यापार, उनकी भावभूमी में अन्होंने अवगाहन किया।

सूरदास वल्लभ संप्रदाय के अष्टछाप परंपरा का कवी था। इस संप्रदाय के कवी पदों का गायन करते हैं। “सूरदास गायक कवी था” इस बात का कुमारजी को बड़ा घमंड था। यह वाक्य वे बहुत गर्व से कहते थे। ‘अहोपति सो उपाउ कछु कीजे’ ऐसा मानो सूरदास ने ही कुमारजी को कहा हो इसीलिये कुमारजी ने सूरदास को अभिजात गायकी के ढंग से पेश किया। पर यह करते हुए सूरदास के अथक और तृप्त भावुकता के महीन धागे भी उन्होंने उस गायकी में पिरोये। कृष्णचरित्र के उत्कट क्षणों के वर्णन में निरंतर मग्न और उस प्रसंग के climax में अपने नामोल्लेख से ‘प्रकट’ होनेवाले सूरदास के क्या कहने! सूरदास के पदों का कुमारजी का चयन अचूक और अप्रतिम था।

*गोकुल प्रगट भये हरी आई  
अमर उधारन असुर संहारन  
अंतरयामी त्रिभुवनराई...*

(और अंत में सूरदास प्रकट होते हैं)  
*सूरदास पहिले ही मांग्यो  
दूध पियावन जसुमती माई*

मीरा की मुग्धता, कृष्णरूप से उसकी समरसता, उसका निरागस समर्पण, उसके शब्दों की नृत्यमय तंद्रा कुमारजी ने अपने स्वरों में ढाल दी और इसी मनोवृत्ती से गाया।

*पियाजी म्हारे नैणा आगे रह्यो जी...*

संत कवियों की भावभूमि में जाकर, उनके देश-काल-स्थिती की कल्पना कर, उन कवियों को जो कहना है, उसको अधिक सामर्थ्य से अगर उस पद की स्वर रचना कह सकती है, तो उसी में उस स्वर रचना का सार्थक है – ऐसा मानदंड उन्होंने खुद के लिये निश्चित किया और इसी कसौटी पर उन्होंने अपनी स्वररचनाओं को परखा !

*शामरूप शुची रुचिर कसौटी  
चित कचन ते खसैं हो.’*

निर्गुण भजनों की मौखिक परंपरा माळवा में रहने से कुमारजी को अनायास प्राप्त हुई। बस्ती से दूर निर्जन में रहने वाले नाथ संप्रदाय के इन साधु मंडली के स्वर उनके ध्वनि का अलगाव उन्हें महसूस हुआ और उसका उन्होंने अभ्यास किया। इन साधुओं के स्वर उनकी जीवनशैली से जुड़े हुए हैं, यह उनके अभ्यास का निष्कर्ष था। कुमारजी ने कहा है, “निर्गुण गायन में शून्य निर्माण करने की इन साधुओं की जो शक्ति है वह अद्भुत है। निर्गुण गायकों का आवाज निकालनेका तरीका उनकी जीवनशैली से जुड़ा हुआ है। उस मिजाज के बिना आवाज में वह ध्वनि निकालना असंभव है। निर्गुण गाते समय उसका एकांत व्यक्त होना चाहिये। कबीर की वीरानियत और फक्कडपन का एहसास ध्वनि और स्वरों के उच्चारण द्वारा श्रोताओं तक पहुँचना चाहिये।” कबीर और नाथसंप्रदाय के निर्गुण भजनों को कुमारजी ने इसी संवेदना से गाया।

‘मालवा की लोकधुनें’ यह कुमारजी ने अनुभूत किया हुआ लोकधुनों के सांगितिक सौंदर्य को साकार करने वाला कार्यक्रम हुआ !

लोकधुनों का मर्म और रागसंगीत से उसकी अटूट नाल को लेकर मेरा एक रिसर्च पेपर है, जिसका अगर संप्रात्यक्षिक निरूपण किया तो वह ३ घंटे का कार्यक्रम होता है। इसीलिये उसका संक्षेप इधर नहीं दे रहा हूँ। यह कार्यक्रम कुमारजी के इस क्षेत्र में दिये हुए योगदान का और एक पहलू उजागर करता है। रागसंगीत और लोकसंगीत के परस्पर संबंधों के बारे में जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ वैसा कुछ कहने का कुमारजी का 'मालवा की लोकधुनें' में उद्देश्य नहीं था। एक गवाक्ष खोलकर संगीत के सौंदर्य का यह दुर्लक्षित कक्ष उन्हें आलोकित करना था। महाराष्ट्र में इस कार्यक्रम का आनंद बहुत कम मात्रा में उठाया गया। पूना के बालगंधर्व रंगमंदिर में श्रोताओं की उपस्थिति नगण्य थी। मालवी लोकधुनों में बजने वाले एकतारानुमा ७ मात्रा के लंगड़े ठेके का नामकरण कुमारजी ने 'सतवा' किया था। पूना के खड्डूसों ने इस शब्द के मराठी में होनेवाले 'सता'ने वाले अर्थ से इन लोकधुनों को सुना।

---

पारंपारिक बंदिशें, उनके रचयिताओं की खासियतें, उनका कुमारजी द्वारा समझा हुआ मर्म, इस पार्श्वभूमि पर कुमारजी की स्वरचित बंदिशें, उनमेंसे प्रस्तुत होने वाला कुमारजी का कवी, वाग्ग्येयकार के रूप में दर्शन, इस बारे में उनके समकालीनों की उदासीनता, उनके क्षीण विफल प्रयोग आदि की आलोचना की व्याप्ति एक संपूर्ण पुस्तक का, सच कहो तो **archival material** इस्तेमाल करके और स्वयं गा कर कटाक्ष करने का विषय है। इसकी उपयोगिता की दरकार है और स्थिति उत्साहवर्धक बनी तो इसे प्रत्यक्ष में उतारने का मेरा नम्र मानस है।

---

स्व. वसंतराव आचरेकर ने अब सही माने में 'ठेकेदार' की हैसियत से कुमारजी की महफिलों में और जीवन में स्थान ग्रहण किया था। 'अपनी मढ़ी में आप ही डोलूँ, खेलूँ सहज स्वइच्छा' कहते हुए अपने देवास की गढ़ी में रमे हुए इस जोगी के भारतवर्ष के छोटे बड़े शहरों में कार्यक्रम आयोजित करने के पीछे वसंतरावजी का आग्रह और संयोजन चातुर्य था। इन्हीं के लगातार पीछे पड़े रहने से कुमारजी ने 'मला उमजलेले बालगंधर्व' पेश किया। बंबई पूना में प्रस्तुत हुए छः के छः कार्यक्रम housefull।

इस प्रयोग की हर जगह से इतनी मांग थी कि तीन चार साल तक कुमारजी को इसे पेश करते रहना पड़ता। भीमसेनजी की 'संतवाणी' जैसे उनके रागसंगीत की महफिल से अधिक लोकप्रिय होकर जनमानस में बस गई, ऐसी ही बात 'मला उमजलेले बालगंधर्व' की आसानी से हो सकती थी। इस कार्यक्रम के बारे में जब भी पृच्छा होती थी तो कुमारजी का एक ही तकिया कलाम हुआ करता था, "मैंने अब बालगंधर्व को फुल्स्टॉप दे दिया है। यही एक ही मेरा गोरखधंदा नहीं है, मुझे संगीत में अन्य बहुत कामकाज हैं।" यह बात तो ठीक है लेकिन इस प्रस्तुती के बाद कुमारजी की तान अधिक आशयघन और गोल हुई।

'मराठी संगीत नाटक' यह महाराष्ट्र का जागतिक रंगभूमि को योगदान माना गया है। उत्तम कथावस्तु, काव्य, संगीत, संवाद और अभिनय के इस पंचांग में बालगंधर्व नाम का शुभयोग पचास से ज़्यादा वर्ष मराठी रंगभूमि में वास किये था।

'मला उमजलेले बालगंधर्व' यह कुमारजी ने बालगंधर्व को दी हुई सश्रद्ध मानवंदना नहीं थी। इस प्रस्तुती की पेशकश में

उनकी चिंतनशीलता और प्रतिभाविलास के सबूत मिलते हैं।

बालगंधर्व के स्वयंभू गानगुणों को भास्करबुवा बखले जैसे चौमुखी गवैये ने सुसंस्कारित किया था। नाट्यसंगीत में संगीत के अभिजात मूल्यों का बीजारोपण किया था।

संगीत नाटक की समग्रता का खयाल रखते हुए स्त्री भूमिका करने वाले बालगंधर्व के बहुपहलुत्व की छाया में उन अभिजात गानगुणों का पौधा ही पनपा पर किसी वटवृक्ष की खिलावट के लिये इन नाट्यप्रयोगों में गुंजाइश नहीं थी इस अभिभावना से कुमारजी प्रभावित हुए और अन्होंने एक अनूठा मार्ग तय किया। नाट्यप्रयोग की समग्रता को परे रखते हुए केवल दो तानपुरों में बैठकर क्या बालगंधर्व के गायन की सांगितिक शक्यताओं की आजमाइश और अभिवृद्धि हो सकती है ? क्या उन अभिजात कलागुणों का विकसन संभव होगा? इसकी जांच स्वयं गाकर ही करने हेतु उन्होंने बालगंधर्व की गायकी का सखोल अभ्यास किया और उसे पेश किया। काबिले गौर बात यह है कि पारंपारिक कलामूल्यों का नूतन आविष्कार ही परंपरा का सूत्र पीढी-दर-पीढी अटूट और कायम रखता है।

इसी दौरान बाळ कोल्हटकर के नाटक के लिये कुमारजी ने 'प्लेबॅक' दिया। नाटक में इसका ध्वनिमुद्रण ही बजता था। 'उठी उठी गोपाला' यह भूपाली इतनी लोकप्रिय हुई कि मराठी जनमानस के दैनिक नित्यकर्म में उसने स्थान ग्रहण कर लिया। वाणी जयराम के साथ गाया हुआ युगलगाय भी उतना ही लोकप्रिय हुआ।

महाराष्ट्र के जेष्ठ और नामचीन कवी अनिल की कविता को अभिजात संगीत के पहलू में स्वरबद्ध कर कुमारजी ने 'भावगीत गायन' की एक अनोखी शैली का सूतोवाच किया। अभिजात संगीत में, खास करके ख्याल में 'भाव' की मात्रा कितनी होनी चाहिये यह 'वाद'-विवाद संगीतकारों के और रसिकों के निरंतर चाव का, हमदर्दी का विषय ठहरा है। इसी पार्श्वभूमी पर " 'आज अचानक' यह मेरा भावगीतों की दुनिया का बड़ा ख्याल और 'अजुनी रुस्नी आहे' यह उसकी जोड़ मैने बांधी है" यह कुमारजी की उत्ती रसिकों को एक अलग ही सौंदर्यबोध से अनुभूत करती है। यही संकल्पना राजा बढे के दो भावगीतों को स्वरबद्ध करते हुए कुमारजी ने उपयोग में ली। यह भावगीत सुनते हुए इक ओर भावार्थ की छटाएं गूढ गहरी होती रहती हैं, तब दूसरी ओर त्रिताल और रूपक जैसे 'ताल' गाए जा रहे हैं, यह भी प्रतीत होता है। यही इन भावगीत की जोड़ियों की खासियत है। ये भावगीत बेहद लोकप्रिय हुए।

कुमारजी के 'गांधी मल्हार', यह मेरी अत्यंत प्रिय राग निर्मिती के बारे में कुछ कहना चाहूंगा। उन दिनों कुमारजी वाक्पटू राहुल बारपुते से महात्मा गांधी के 'सत्य के प्रयोग' पढवा रहे थे और विमर्श कर रहे थे। बातों बातों में कुमारजी बोल पड़े, 'महात्माजी के प्रति मुझे अतीव आदर इसलिये है कि उन्होंने रविंद्रनाथ की तरह संगीत में दखलअंदाजी नहीं की।' गांधी मल्हार यह रचना कुमारजी ने महात्माजी के व्यक्तित्व को और विचारों को दिया हुआ मानवंदन है। तीस साल पहले की इस निर्मिती के बारे में कुमारजी की भूमिका आज नये सीरे से कहने की ज़रूरत है। कुमारजी की यह भूमिका तब मैने ही शब्दबद्ध की थी। वह 'सत्यकथा' में प्रकाशित भी हुई थी। उसका कुछ अंश आगे चलकर उद्धृत करने वाला भी

हूँ। गांधी मल्हार की निर्मिती कोइ राजनैतिक अथवा संगीतिक stunt नहीं था। केंद्रीय गांधी शताब्दी समिती और आकाशवाणी ने गांधी शताब्दी वर्ष मनाने हेतु कुमारजी से मशवरा किया। कुमारजी ने समिती को रागरचना की कल्पना सुझाई। किसी भी अनोखे व्यक्तित्व को या विचार को वंदन करना हो तब नवरचना होनी चाहिये यही कुमारजी की भूमिका थी और वह उनके स्वभाव के अनुरूप ही थी। उसमें एक शोध था, प्रयोग था और सृजन के क्लेश थे। राग का 'अंबिका' यह नाम बदल कर 'मधुवंती' रखना या तोड़ी के पहले 'मिया' और भीतर पंचम लगाकर उसे नवनिर्मिती कहना शायद उन्हें मंजूर न था।

उन दिनों लोकप्रियता का अभय प्राप्त भीमसेनजी ने 'अब मैं जीना मल्हार बांधता हूँ' कहकर कुमारजी के इस उपक्रम की खिल्ली भी उड़ाई थी।

इस संदर्भ में अपनी भूमिका सुस्पष्ट करते हुए कुमारजी कहते हैं, "महात्मा गांधी को राजनीति में प्राप्त अपूर्व यश, उनके कर्तृत्व से केवल राष्ट्रजीवन में ही नहीं पर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर घटे हुए चमत्कार सभी जानते हैं। अपितु महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में प्रकर्षता से विद्यमान सत्यशोध याने ही अभय और करुणा इन दो प्रवृत्तियों के संगम में मुझे दिव्यत्व की प्रतीति होती है।" यहां अभय से अभिप्राय है 'भयमुक्त', जिसे डर नहीं लगता। कुमारजी कहते हैं, "मेरे कर जुड़ते हैं वह उनकी अभय साधना समक्ष। मेरा मस्तक नत होता है, वह उनके सर्वकश करुणा के सम्मुख। यह दोनो प्रवृत्तियां व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त राग की नींव पर ही नये राग की रचना संभव थी। और इसीलिये मैंने मल्हार राग चुना।"

गांधी मल्हार में महात्माजी की असीम करुणा को मुखरित करने वाले मल्हार के अंगभूत दोनो निशाद हैं ही, पर उनकी बुलंद

अभय साधना, सत्य साधना और धैर्य अभिव्यक्त करने हेतु, मल्हार में शुद्ध गंधार के अभिनव और अत्यंत समर्पक प्रतीक की योजना की। मल्हार के आधारवृक्ष पर शुद्ध गंधार का फाटा लगाया (कलम किया)। यह कुमारजी के प्रेरणा और निर्मिती की पार्श्वभूमी है। मुझे ऐसा लगता है कि वह नजरअंदाज कर के भी यह राग सुना जाए तो निश्चित ही लगता है कि यह मल्हार को खींच-तान के किया हुआ अपभ्रंश न होते एक स्वयंसिद्ध रागरूप है। रागरूप सिद्ध होने के लिये आवश्यक सभी तत्व इस मल्हार के प्रकार में हैं। उसके स्वरो के आने जाने में अपना अंगभूत तर्कशास्त्र है। सांगितिक परिभाषा में ही बतियाना हो तो मल्हार में शुद्ध गंधार का प्रयोग (न की जैसे रामदासी में होता है) और उस गंधार की शुद्ध धैवत से ग-ध ऐसी आरोही और ध-ग ऐसी अवरोही मीड बहुत कुछ कह जाती है। मल्हार की विकल करुणा की मेघ घटाओं में अभय साधना का तेजस्वी रविकिरण प्रकट होता है, सांत्वना, तसल्ली देता है, धैर्य देता है! ऐसा शायद घटता हो न हो, किसी को ऐसा लगे न लगे; पर कुमारजी की इस रागनिर्मिती के बारे में भूमिका यही थी।

### गौड मल्हार एक दर्शन

किस्सा पंढरिनाथ नागेशकर के गुरुपूर्णिमा समारंभ का, जिस में कुमारजी गौड मल्हार गाए, बंबई के छबीलदास हॉल में। घिसे पिटे 'काहे हो' के बजाए 'बरसे मेहरवा' यह भातखंडे द्वारा स्वरलिखित ख्याल गाए। नामोल्लेख करना उचित नहीं समझता हूँ पर सुनने आई घरानेदार गायकों की मंडली तितर बितर हो अपने अपने घरौंदे में पहुंची। उन में से एक पंडित हामारे घर ठहरे हुए कुमारजी से, वामनरावजी को गवाह रखते हुए, झगड़ा मोल

लेने के लिये आए। कुमारजी ने उनको प्यार भरी 'समझ' दी। कहा, "पंडितजी, मल्हार के बारे में आप क्या जानते हैं? मैंने भारतवर्ष के कई जगहों की वर्षाऋतु की अनुभूति ली है। अनेक जगहों के गवैयों ने किया हुआ गौड़ मल्हार का आविष्कार सुना है। भारत जैसे कृषिप्रधान देश के किसान की वर्षा ऋतु को लेकर की संवेदनाएं मैं जानता हूँ। आप तो मार्च के महीने ही से छाता उठा कर बाहर निकलते हो और बारिश आते ही किवाड़ बंद कर लेते हो।" बाद में कुमारजी ने इसी खुन्नस में गौड़ मल्हार की उन्नीस बंदिशें दीवान-ए-खास में चुनिंदा लोगों को सुनाई। ऐसा पहले किसी ने किया नहीं था। फिलहाल मैं ही करता हूँ। इन सभी कुमारजी के शब्दों में special programmes की निर्मिती में हाज़िर रहने का राजयोग मेरी कुंडली में था। मेरा तानपुरे लगाना, ठेका लगाना उन्हें बहुत पसंद था। सोहबत बनी ही रही और शिक्षा भी जारी रही। पर यह सब होते हुए, मुझे उनके जैसा ही गाना है, और इसी ध्येय को साध्य करने हेतु जी तोड़ मेहनत करनी है, ऐसी मेरी मनोधारणा नहीं थी। लगता है, अनजाने में मुझे मालूम ही था कि 'साहब मिले सबूरी में'। या फिर मुझे तब लगता होगा कि मैं चिरंजीव हूँ।

*हज़रते ख़िज़्र गर शहीद न हों  
लुत्फ़े उम्रे दराज़ क्या जाने*

यह सयानगी थी या एक किसम की मुफ़्तखोर निर्लिप्त अय्याशी थी, यह तय नहीं कर पा रहा था।

---

'मला उमजलेले बालगंधर्व', बाळ कोल्हटकर के नाटक के गाने और कुमारजी ने गाए भावगीत की ध्वनिमुद्रिकाएं खूब लोकप्रिय हुईं। इनकी खपत ने उच्चांक प्रस्थापित किये और कुमारजी के कार्यक्रमों की संख्या

महाराष्ट्र में बढ़ी। इसी दौरान मध्य प्रदेश में अशोक बाजपेयी जैसे धुरीण 'समझदार' कवी ने कुमारजी की महत्ता की पहचान शासकीय स्तर पर अधोरेखित कर दी। (कुमारजी के साथ मंगेश डबराल, रमेशचंद्र शाह आदि को लेकर अशोक बाजपेयीजी ने जो दीर्घ बातचीत की थी, जो कि मध्य प्रदेश कला अकादमी द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'पूर्वग्रह' में शायद १९७६ में छपी है, वह मेरे हिसाब से कुमारजी के विचारों का एक मौल्यवान historic document है, जिसे आज भी मैं कई बार पढ़ता हूँ और कुमारजी के विचार जानने के लिये हर कुमारप्रेमी को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये। चाहें तो इसकी प्रतियाँ मैं उपलब्ध करा सकता हूँ)। इस लेख में भी इक्का दुक्का जगह मैंने उससे कुछ संदर्भ और वाक्यांश उद्धृत किये हैं। दिल्ली में विनयचंद्र मौद्गल्य ने, उनके परिवार ने और उनके अनुगामियों ने यही काम किया। कुमारजी के सांगितिक मूल्यों का जतन और प्रचार श्री मधुप मुद्गल आज भी यथाशक्ति कर रहे हैं तथा गांधर्व महाविद्यालय के स्नातकों को भी इन से परिचित करा रहे हैं।

गायन की सभी परंपराओं के तर्कशास्त्र का सारांश लिये हुए और किसी भी चीज़ की अती से वंचित कुमार गंधर्व नामक 'बिरखन के चिकने' खयालात रसिकों को रिझाने लगे। उनका एक श्रोतावर्ग तैयार हुआ। उनके खयाल में पहले मुझे लगनेवाला अकेलापन, खयाल गायन के बीच महसूस होने वाला और क्वचित ही बहुत कुछ कहनेवाला पर अक्सर अस्वस्थ करने वाला सूनापन... उस शून्य शिखर पर... अब झालर झलकने लगी। सूनापन जाकर गायन के समग्र अंगों को अखंडता प्राप्त हुई। किसी भी अंग की अती और भपके से वंचित और गायन के अष्टांग में से विशिष्ट अंगों में से कभी अतिशय मुखर तो कभी मूक, मुग्ध संकेत उनके खयाल गायन से अभिव्यक्त होने लगे। अष्टांग के निश्चित ढांचे में कुमारजी ने अपना खयाल कभी भी वैद नहीं किया। किया यह कि काव्य पक्ष

की तरफ, उसके उच्चारण के नादसौंदर्य की तरफ एक कवी के नज़रिये से देखा और बंदिश में जो राग का और शब्दों का चित्रण है, उसे अनुकूल और पोषक अष्टांगों के कुछ ही अंगों को उपयोग में लिया। अलग अलग ख्यालों में समय समय पर, वक्त-दर-वक्त विभिन्न अंगों की वृद्धि की।

कुछ ही चुनिंदा अपवादों को छोड़ कर बहुतांश कलाकार अष्टांग के आठ या चार अंगों पर अपना प्रभुत्व है, और हर एक महफिल में वह सिद्ध करने की अपनी नैतिक ज़िम्मेदारी है, इस भावना से अभिभूत उसी चेष्टा में रहते हैं। और इस खेली में खुद को बेचारे और गाने को दया का पात्र कर बैठते हैं।

कुमारजी ने ख्याल के / बंदिश के भीतर का 'song' तलाशा, उसे चारों ओर से घूर कर देखा, उसकी कोपलें ढूँढी, उस राग के भीतर की ज़मीन कसी और उपजाऊ खेती की।

मुझको बचपन से प्रोत्साहन देने वाले बाळासाहेब बाकरे जी ने कुमारजी के विराट repertoire से महफिल में उनके द्वारा सहसा पेश नहीं की जाने वाली १०६ बंदिशों का चयन कर (यह चयन मैंने ही किया था) उसका दृक-श्राव्य मुद्रण करने का संकल्प ठाना। और बड़ी हिम्मत से वह सिद्ध भी किया। इस प्रकल्प के शुभारंभ में कुमारजी ने कहा था, 'आलाप कर सकता हूँ, ताने मार सकता हूँ, बोलतान कर सकता हूँ, इसलिये इन्हें करते रहने वाला नहीं हूँ। गाना ! गाना गाने वाला हूँ।'

यह ध्वनिमुद्रण का समय आगे का है। १९८० के दशक का। कागज़ पर मैं अभी सन ७०-७२ में ही हूँ। हाँ, और एक बात अभी बताई ही नहीं, छुटपन से ही मुझे बंदिशें बांधने की, कुमारजी के ही शब्दों में कहें तो 'knack' थी। Composition और composer इन दो चीज़ों का मुझे खास आकर्षण है। फिर वह

composer और composition किसी भी कलाप्रकार का हो। इस में चित्रकला, काव्य, संगीत के अलग अलग फॉर्म्स जैसे गज़ल, तुमरी, सिनेसंगीत और दाक्षिणात्य और हिंदुस्तानी संगीत की तालक्रिया भी शामिल है। इन क्षेत्रों के गुणी लोगों से बचपन से ही मैंने संबंध बनाए रखे हैं। बचपन से बहुभाषिक समाज में मेरी परवरिश हुई। अलग अलग भाषाओं का मुझे शौक है। इस लेख में भी अनुभव लिखते समय मुझे शब्दों के वैभव का एहसास रहा है और उस दुनियां से मुझे संकेत आते रहे हैं। इन सब बातों का मैं मज़ा ले ही रहा था और सफ़र हयात का तवील न हुआ। इम्तहानों में उत्तीर्ण होते होते मैं बी.कॉम. हो गया। और चूं कि पिताजी बाटलीबाँय और पुरोहित इस मशहूर चार्टर्ड अकाउंटेंट फर्म के जेष्ट हिस्सेदार थे, इसीलिये वहां आर्टिकल्स किये और इंटर सी.ए. की दहलीज़ तक पहुंचा। सी. ए. होकर फर्म में हिस्सेदारी लेने के बजाए घर में मिली संगीत की वीरासत की हिफ़ाज़त करना मैंने उचित समझा। पिताजी ने सुझाया के तुम फर्म में हिस्सेदार हो कर भी संगीत का व्यासंग कर सकते हो। पर इस बात को लेकर वे अनाग्रही थे। कला कोई पार्ट टाई म करने की चीज़ नहीं, वह एक जीवन प्रणाली है। यह मेरी धारणा पक्की थी। सीखना है तो अभिजात संगीत ही। इस संगीत के स्वभाव, संभावनाओं का आकलन होना चाहिये। सभी गानप्रकारों की पहेलियां, गुथियां सुलझाने की जड़ी-बूटी अभिजात संगीत में ही है ऐसा निश्चित रूप से मुझे लगता था। इसके अलावा सबकुछ फ़िज़ूल है, व्यर्थ है, ऐसा लगता था। सांगितिक विचारों की परंपरा, कला की समग्रता अगर जानना समझना हो, तो रवीशंकरजी की या कुमारजी की सोहबत का सातत्य चाहिये ये भी मैं तय कर चुका था। मगर रवि शंकर अपने वादन में जिसका विपुल उपयोग करते थे उस लयकारी के तर्कशास्त्र को अभ्यास से नापा-तौला जा सकता है, इस का मुझे भरोसा था। पर इसकी तुलना में कुमारजी की अलग अलग परंपराओं की समझ,



और उसमें न समाए जाने वाले कलाकारों की प्रतिभाओं की समझ देख कर मैं बहुत प्रभावित हुआ था। समय समय पर इस बात को मैं महसूस करता आ रहा था। साथ ही उनके खुद के गाने में प्रतीत होने वाली सदिग्धता, राग ताल के व्याकरण को हानि न पहुंचाते हुए उनके गायन में पैदा होने वाली गूढ अनिर्वचनीयता तब एक पहली ज़रूर थी, पर बड़ी लुभावनी और आकर्षक। आखिर कुमारजी का पलड़ा भारी हो ही गया और इस निर्णय से मैं हलका।

पिताजी की फर्म में हिस्सेदारी न लेने की एक फकीरी मस्ती मुझपर छाई थी। इस के फल स्वरूप जिसका अनुमान लगाया जा सकता है, जो सुनिश्चित है, ऐसे संगीत को और उसे गाने वाले लोकमान्य कलाकार को गुरु कर के उसके अथवा उसके घराने की goodwill का आगे जा कर लाभ लेने का मैं लालायित नहीं था। उत्तर हिंदुस्तानी अभिजात संगीत का स्वभाव समझना, उसकी निर्मिती प्रक्रिया समझनी चाहिये, यह मेरा ध्येय था।

---

मेरा देवास प्रस्थान निश्चित हो गया। वामनराव और कुमारजी में इस बारे में बात हुई। कुमारजी ने वामनराव को कहा, 'इस को दो साल देवास के फाईसन जेल में रहना होगा'। यह कहते हुए हाथ में रखी हुई तमाखू को मल कर महीसन हुआ चूर्ण उन्होंने अंगुष्ठ और तर्जनी में धर कर वामनराव की तरफ उठाया था। इस तरह १९७२ की जुलाई में एक तिलिस्मी दुनिया में मैंने प्रवेश किया।

---

देवास जाने के पहले की मेरी मनोवस्था विषद कर रहा हूँ। अब तक की अवधि में प्रमुखता से कुमारजी की सोहबत में, घरानेदार गाने की तालीम लेने से जो कभी मिल नहीं सकती, ऐसी बहुत संवेदनाओं का विकसन मुझमें हुआ था। मेरे अंतर में बहुत गहरे, बहुत कुछ समाया जा रहा था। कुमारजी के सांगितिक मूल्यों का, उनके सौंदर्यशास्त्र का आकलन मुझे हुआ है, उनके उपज अंग का बीजारोपण भी मुझमें हुआ है, ऐसा मुझे तब लगता था। क्या उनकी सांगितिक जड़ें विभिन्न मान्यताप्राप्त गानपरंपराओं में छिपी हुई हैं? यह तलाशने की मुझे उत्कंठा थी। कुमारजी क्या सिखाएंगे? किसे वे शिक्षण समझते हैं? उन्होंने भी तो इस बारे में कुछ सोचा होगा। वह क्या होगा? इसका औत्सुक्य भी मुझमें था।

हमारी तालीम शुरू हुई। तालीम केवल शनीचर व इतवार को। सवेरे, शाम। वसुताई, मुकुल, मैं, इंदौर के किरकिरे, लोंढे, और भोपाल से आई तो मीरा राव। ऐसे हम सब लोग सीखने बैठते थे। यह तालीम राग संगीत की हुआ करती थी। किसी राग का ख्याल, उसका नोटेशन सामने रख कर इस बंदिश की बारीकियां वे दो चार बारगी गा देते थे और उसे दोहराकर याद करने कहते थे। इस दौरान वे बाहर जा कर फिर लौटते थे। फिर उनका और हमारा क्रमशः आवर्तन भरने का, बांधने का और वह बांध कर सम पर आने का सिलसिला जारी रहता था। फिर वह राग उन्होंने जिन से सुना था, उन प्रतिभावान कलाकारों की spirit का उनमें संचार होता था। मिसाल के तौर पर मान लीजिये राग बिहाग की तालीम हो रही है। ख्याल सिखाया जा चुका है। अकस्मात, बिहाग ही की 'चुरिया बार बार करकाई' आफताब-ए-मौसीकी फैयाज़ खां के जिस अंदाज़, थाट और रुतबे से वे गाते थे, वह नकल उतारने की बात नहीं थी, वह फैयाज़ खां की planchet पर से न बुलाई हुई spirit ही हुआ करती थी।

तो कभी ग्वालियर घराने के सप्तक—देढ सप्तक दीर्घ स्वरों के लफफेदार गुच्छे, पूंज बदन पर धरे अर्ध ऊर्ध होते रहने वाले आलाप, तो कभी गमक, तो कभी सट्टों की भरमार चलती रहती थी। तो कभी राजा भैया पूंछवाले से प्राप्त तराना सिखाकर उस रचना की सादगी कितनी कलात्मक है, कीमती है, इस पर भाष्य हुआ करता था। अल्लादिया खां के गले में मीड नहीं थी।

सा ग SSSS प SSSS म SSSS ग ऐसी मीड टाल के उसी बात की गमपमपगसा ऐसी खटकेबाज और अचूक phrase बनाकर उसी बिहाग का किस कदर सावनी और बिहागड़ा में metamorphosis किया यह वे गा कर बताते थे। “अल्लादिया खां ने अपनी आवाज़ की मजबूरियों को समझा और उन्हें ध्यान में रखते हुए गायकी के नए रस्ते बनाए। गाने को छोड़ा नहीं। बड़ा चतुर बदमाश आदमी!” ऐसी कुमारजी की खास दाद भी निकल जाती थी। दो—ढाई घंटे कैसे गुज़र जाते थे, इस का पता भी नहीं चलता। कुमारजी ने भी देवधरजी के सान्निध्य में उनके स्कूल में ऐसे ही संस्कार ग्रहण किये थे और इन बुजुर्गों का गायन सुना था।

कुमारजी के गायन का स्वर काला तीसरा। स्त्रियों के काले चौथे से एक पूरा स्वर नीचा। इसीलिये स्त्रियों को उनकी संगत करना सहजसाध्य होता था। हम स्वरपुंगवों की तालीम के लिये उन्होंने उनका स्वर सफेद तीन तक नीचे खींचा। इसके नीचे उनकी रेंज नहीं थी। ‘गुरु’त्वाकर्षण से वह pitch में गाना मैंने थोड़ा कुछ निभा लिया। पर मनोबल का इंधन (ऊर्जा) खत्म होने पर आवाज़ का रॉकेट फिर से काले पहले के पितृदत्त होम ग्राउंड पर आकर ठहरता।

हमारे रियाज़ के कमरे में जाकर मेरे काले पहले के ढाले स्वर में जब गाने बैठता था गले में जड़ धरे हुए गानबीज अलग तरीके से

पल्लवित होते थे और गाने में अलग किसम की खुमारी आती थी। पर कुमारजी के काले तीसरे के चढे हुए जनानी pitch से उत्पन्न स्वरों का तेज और चैतन्य मेरे ढाले pitch में अभिव्यक्त होता नहीं है, इस बात से मैं बेचैन और त्रस्त रहता था। मुझे लगता था मेरी मनोवृत्ति में ही वह बल नहीं है, मैं उस बुलंदी को छू नहीं सकता। और मेरी बागबानी में फलों के बजाए छिलकों की ही पैदाइश होती है।

गुरु शिष्य परंपरा में पाई जाने वाली यह पुरानी समस्या है। खास कर के गुरु जब समर्थ गायक हो, तो उनकी pitch में गाकर उनकी आवाज़ का अनुकरण करने से ही उस गुरु का सौंदर्यशास्त्र सिद्ध होता है ऐसी भावना बन जाती है। शिष्य के इर्द गिर्द ऐसी भावना बनाए रखने वाली गुरु की भक्तमंडली होती ही है। और अलग जाती की आवाज़ पाए हुए शिष्य की अवस्था दिशाहीन हो जाती है।

Relevant है इसलिये लिख रहा हूँ, देवास में उन दिनों वझेबुवा के शक्तिशाली गायन का खूब आनंद उठाए हुए एक वृद्ध महाशय आए थे। वह एक तगड़ी महाकाय हस्ती थी। मुकुल ने और मैंने उन्हें गाना सुनाया। उनके वृद्ध चेहरे की झुर्रियां तक नहीं हिलीं। इसी दौरान देवास के टाऊन हॉल में कुमारजी कुछ ज़्यादा ही कस के गाए। कुमारजी का दमदार तार शड़ज सुनते ही वे इस तरह चौंके कि जैसे कोई करंट लगा हो। गाना खत्म होते ही उन्होंने कुमारजी को जो दाद दी, वह लाजवाब थी। वे कह पड़े, “मस्तक में आवारा भटकने वाले कीटक स्तब्ध हो गए!”। कुमारजी को यह दाद तह—ए—दिल से इतनी पसंद आई कि कई दिनों तक आने वाले अतिथी अभ्यागतों को यह दाद वे सुनाते रहे। आवाज़ में ‘एक लोहार की’ होनी चाहिये। ‘सौ सुनार की’ याने क्षूद्र कारीगरी ऐसा पुराने ज़माने का एक मूल्य था। अब वह नहीं रहा।

मुकुल और मेरी जोड़ी बनी रही । सांगितिक मानसिक व्यथाओं में हम एक दूसरे को सांत्वना देते थे और एक दूसरे के लिये सहारा बनते थे । सही मानों में हम suffer । मुकुल मुझपर बचपन से ही अनुरक्त था । उसने समय समय पर लिखे हुए खतों से भरा एक छोटा सा संदूक मेरे पास है । मैं उससे चार साल बड़ा था । उसका friend, philosopher और शायद misguide । कहावत है ना, “तुझे कोई और नहीं और मुझे ठौर नहीं” । हम दोनों को रियाज़ में क्या करना चाहिये, क्या नहीं इस पर कुमारजी ने शायद ही दखलंदाजी की हो। इस मामले में वे अनाग्रही और उदासीन ही रहते थे । हमारी अस्वस्थता, हम पर बीतने वाले निराशा के दौर उन्हें अकारण और बेमतलब जान पड़ते थे । उन्हें उन्होंने दुर्लक्षित किया । ‘कला के प्रवास में नैराश्य के झटके एक अपरिहार्यता होती है । ज़रा मज़बूत बनो! हिम्मत रखो! समझ में आया ना, कला कितनी खतरनाक होती है? निकले हैं कलाकार बनने!’ ऐसा ही कुछ उनका attitude हुआ करता था। पुत्र ही या शिष्य, उसके मानसिक आंदोलनों को मान्यता दे कर पुचकारने का उन का स्वभाव नहीं था । ‘जाने दो, मरने दो, झक मारने दो, मज़ा लेने दो या परेशान रहने दो । खुद का रास्ता खुद ढूँढने दो’ ऐसी ही कुछ उनकी सोच थी । मेरे इस वास्तव्य में मैं वसुंधराताई के रियाज़ में उनको तबले की संगत देता था । संगीत में उनकी प्रामाणिक निष्ठा, और गुरुपत्नि की भूमिका निभाते हुए एक स्वतंत्र संगीत साधक की हैसियत से जारी रहने वाली उनकी साधना, इन दोनों का उस निराश अवस्था में मुझे सहारा था ।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि कुमारजी ने कभी भी हमें ‘मेरे जैसा गाइये’ ‘ऐसा ही गाइये’ या ‘ऐसी ही आवाज़ लगाइये’ ऐसे कुछ कहा नहीं । आवाज़ गोल, नादमय, resonant होनी चाहिये, उसको अग्र होना चाहिये, उसमें खराश के धागों की गुत्थी नहीं

होनी चाहिये ऐसी उनकी धारणा थी । यह साधने के लिये उन्होंने एक ‘स्वरसाधना मंत्र’ बनाया था । ‘ये अन् आईओ अम् उई ’ । इन अक्षरों के अनुसार मुखबंदी कर के अलग अलग स्वर (vowels) और अनुनासिक ध्वनियों का वह अलग अलग रागों के स्वरों को लेकर करने का जाप था । इस मंत्रोच्चारण के बाद मेरे sinuses सूज जाते थे और सर भारी हो जाता था । और वह बंद करते ही आवाज़ में पितृदत्त जवारी और खराश आती थी। और मैं अन्यमनस्क हो जाता था । फिर मैंने सोचा कि मेरी आवाज़ का लगाव कैसा होना चाहिये, यह ज़रा फुरसत से और इत्मिनान से तय करेंगे । शेर है,

*मोहब्बत में दिल पे लगती है चोट यक़्सा,  
ज़र्फ़ के फ़र्क से आवाज़ बदलती है।*

ऊपर के स्वर मज़बूत लगते नहीं हैं, काले तीसरे में कुमारजी के volume से आवाज़ लगाने से गले में खून उतर आता था । और बुखार आता था । फिर डॉ. कजवाडकर को बुलाया जाता था । मरीज़ की जांच पड़ताल के बाद वे Erythrocin और Surbex T लिख डालते थे । इन सब बातों से चेहरे की रौनक और उतर जाती थी । एक बार मैंने मुकुल से कहा, ‘मैंने एक सपना देखा । आगरा रोड पर मेरे गले के ऊपर से ट्रक का पैया चला गया । डॉक्टर साहब आए, उन्होंने गंभीरता से जांच की और बहुत सोच के prescription लिखा Erythrocin और Surbex T ।’

एक सहृदय मित्र को ये बातें बता रहा था । उसने कहा, ‘क्या मस्त दिन थे’ । मैंने कहा ‘रातें बड़ी त्रस्त थीं’ ।

---

इस लेखनप्रपंच में, गुरुगृह में जो कुछ घटा, उसका संक्षिप्त मुआइना देने का प्रयास करता हूँ । एक तो कुमारजी ने पारंपारिक राग

और बंदिशें ही सिखाईं । उनकी स्वरचित रचनाएं या उनकी अपनी गायकी के नाम से कुछ भी आग्रह से हमपर लादा थोपा नहीं । जब पिताजी 'घरंदाज गायकी' लिख रहे थे, तब क्या कुमारजी की गायकी का घराना हो सकता है? इसका ऊहापोह वामनरावजी कुमारजी से ही कर रहे थे । कुमारजी ने कहा, "मेरा घराना होगा की नहीं, इस बारे में मैंने कुछ सोचा नहीं है । मुझे उसमें रस नहीं है ।"

देवास में रहते हुए, मेरे हाथों एक मौलिक सत्य लगा । अनिर्वचनीयता की ओर संकेत करने वाले, समा बांधने वाले उनके गायन का raw material पारंपारिक शास्त्र—नियम ही थे । इससे एक तसल्ली और भविष्य की यात्रा जीने के लिये 'द्रौपदी की थाली' मिली । राग की धुन खोज कर उसको पनपाने के लिये बाधा बनने वाली भ्रष्ट होकर अयोग्य साबित होने वाली कुछ स्वरावलीयों में, कुछ शास्त्र—नियमों में उन्होंने जान बूझ कर बदलाव लाए । पर जो नए सिरे से रचा, वे शास्त्र—नियम ही थे । आवश्यक सावधानी न बरतते हुए गायकों ने रागरूपों में और बंदिश के घाट में जो बिखराव लाया था, उसे उन्होंने ठिकाने लगाया, सुधारा । पुराने ख्याल, उनका भातखंडे या मिराशीबुवा द्वारा किया हुआ स्वरलेखन सामने रख कर उस नोटेशन से जुड़े सांगितिक संदर्भ वे जब गुनगुनाते थे और नए सीरे से वह नोटेशन लिखते थे, तब हम सब गवाह हुआ करते थे । वीकेंड की दो तानपुरों की तालीम छोड़ी, तो ऐसा कुछ न कुछ चलता ही रहता था । डायनिंग टेबल पर जम कर बैठकर उनका विविध बातों पर बतियाना, गुनगुनाना सुनते मुझे कितने ही लोकगीत और बंदिशें उनके मर्मसहित याद हुईं । कुमारजी को 'compose' करते हुए मैं बचपन से देखता आ रहा था । कार्यक्रम में जो गाना है उसका वे 'menu' लिखते थे । हर बंदिश के लिये अलग रंग के felt pen । सुवाच्य अक्षरों में वह बंदिशें लिखते समय आज उन्हें कौनसे अंदाज से गाना है, वह विचार वे गुनगुनाते रहते थे । वह

सुनकर मुझे याद हो जाता था । आम, मिर्ची और बेंगन इन तीन रागों में अलग अलग स्वाद की बंदिशें बहुत हैं, ऐसा जायकेदार ज्ञान मैं बड़े चाव से सुनता था । उन दिनों कुमारजी ने शौक से एक इकतारा भी स्वयं बनाया था । उसकी ध्वनि का अणुरणन लाजवाब था । इस तरह कई प्रकार का विद्याधन उनसे मिलता ही रहता था । पर हमको सिखाई हुई बात ही जब वे महफिल में तन्मय और ऊग्र एकाग्र होकर गाने लगते थे, तो उस गाने में प्रतीत होने वाली अनिर्वचनीयता, गाने में पाए जाने वाले तर्क से, होशियारी समझी जाने वाली गलेबाज हरकतों से कुछ अलग ही हुआ करती थी । इस बात पर मेरा प्रभुत्व आन चाहिये, इसे सीखना चाहिये ऐसी मेरी कुछ अ'सुरी' महत्वाकांक्षा थी । अगर ऐसा होता, तो विद्याभ्यास ही खत्म हो जाता ना । मेरी इस आक्रामक शागिर्दी को कुमारजी ने न घास डाली, ना छाछ पानी दिया । आज लगता है, यह सिखाने सीखने की चीज ही नहीं है । अनिर्वचनीयता की अचूक पाकविधी (recipie) कोई किसी को दे नहीं सकता । 'राग रसोई पागड़ी, बंधे सो बंध जाए' ।

मेरे गुरुगृह के वास्तव्य में हम दोनों को भविष्य में commercial stage से performance देकर लोकप्रिय होना है यह खयाल न हमारे मन में था और न ही कुमारजी की सोच में ।

---

फिर उस फाईSSन जेल में से रिफाईSSन होकर मैं बंबई लौटा । मुकुल छः महीने पहले ही हमारे घर बंबई पहुंचा था । मैं गुरुमंत्र साथ लाया था । वह था, "कला के गूढरम्य प्रदेश, शास्त्र—व्याकरण की सीमा को सटे हुए ही होते हैं ।" गाते समय कलाकार इन दोनों की लचीली सीमा रेखा पर स्थित एक के बाद एक आने वाले आवर्तनों की शृंखला बना कर आंदोलित करता रहता है । कुमारजी की

आवर्तन आंदोलित करने की प्रक्रिया, कलाकारी मैंने अनुभव की थी। अब मेरे तरीके से यह सीमारेखा आंदोलित कर के मेरी कलाकारी की पहचान मुझे पानी थी।

इसके दो चार महीने बाद ही जब कुमारजी घर ठहरे थे तब वामनरावजी ने कुमारजी को कहा, उनके स्थितप्रज्ञ नर्मविनोद भरे स्वर में, “कुमार, गंडाबंधन की विधी रह गई ! शिष्य गंडाबंध चाहिये।” यह गंडाबंधन की विधी गुरु—शिष्य का रिश्ता recognise होकर समूची बिरादरी को ज्ञात होने हेतु गाने बजाने वालों में मनाया जाने वाला समारंभ होता है। इससे विद्यादान की sanctity अबधित रहती है और उचक्केपन को प्रतिबंध लगता है। और गुरु से ‘प्रेरणा’ लेने के instant शिक्षणपद्धती पर रोक लगती है। शिक्षण की प्रेरणा लेने जितना आसान तरीका दूसरा नहीं। ई—मेल खोलने में जो झंझट होता है, उतना भी यहाँ नहीं है। प्रेरणा लेने की ठानी कि बस वो ‘ली जा चुकी हुई’ होती है।

वामनरावजी ने नत्थनखां का गंडा बांधा था। रिवाज़ ऐसा है, कि गुरु का गुरु अगर जीवित है, तो वही शिष्य की कलाई पर गंडा बांधता है, गुड़—चने का गस्सा मूँह में डालता है और महूरत के दो—पांच स्वर सिखाता है। इसलिये वामनरावजी को अल्लादिया खां ने गंडा बांधा था जो कि नत्थनखां के गुरु थे। और अल्लादिया खां जो उपज का पलटा लेकर खो कर ‘आनंद मुख चंद्र’ के सम पर आए वह मुझे वामनरावजी ने बताया था। अप्रतिम है। जब कुमारजी को सुनाया, तो उनके मुँह से उस्फूर्त दाद निकल गई थी।

मेरा गंडा बंधन, मेरे देवास से लौटने के बाद रामराव देशमुख के घर, बैंक हाऊस में हुआ। पु.ल. देशपांडे ने भाषण किया, मैं गाया। राग श्री। मैंने लाज रखी, इसका साफल्यभाव कुमारजी के चेहरे पर था। बाद में कुमारजी

गाए। मैं और मुकुल तानपुरे पर थे। इसका ध्वनिमुद्रण है। गंडाबंधन के पहले से ही घर में ठहरे हुए कुमारजी की नज़र एक लाल धागे और गंगाजल पर पड़ी। मेरे माता पिता, मोगूबाई, किशोरीताई बनारस—हरिद्वार की यात्र कर लौटे थे। काशी—विश्वनाथ के पुजारी दर्शनार्थी को जो देते हैं, वही वह लाल गंडा था। वही उन्होंने मुझे गंडा बंधन में बांधा। मुझे गुड़ चने खिलाए, उपस्थितों को बांटे, खुद चखे और कहा, “गुरु का काम guide का होता है। अपने को जो भाता है उस तरफ़ उंगली उठा कर शिष्य का ध्यान आकर्षित करना। यह वामनराव का लाया हुआ काशी विश्वनाथ का गंडा योगायोग से मैंने देखा। इस से अधिक अच्छा गंडा मिल ही नहीं सकता। वही इसे बांध रहा हूँ” (कुमारजी शिवभक्त थे)। और कुमारजी ने अपने हाथ पीछे खींच कर छुड़वा लेने का अविर्भाव किया, जैसे कि उनके हाथ अब मुक्त हो गए हों, जैसे उन्होंने कुछ किया ही न हो। और उन्होंने केवल guide होने भर के लिये वे एक ‘निमित्तमात्र’ थे, इसकी सूचना देने वाला चतुर स्मित किया।

‘मैं गुरुदक्षिणा कदापी स्वीकार नहीं करूँगा’ यह बात डांट कर कुमारजी ने वामनरावजी को समझाई थी। फिर भी गंडाबंधन के बाद उलटी डांट पिलाकर ज़बरदस्ती वामनरावजी ने कुमारजी को एक ब्लैक चेक दिया और साथ में ‘परमसुख’ धोती का जोड़ा। ज्ञान की कीमत नहीं, पर खर्चा पानी गुरु क्यों उठाए, ऐसी शायद उनकी सोच होगी। वामनरावजी जल्दी घर गए। कुमारजी ने शौक से मद्य का घूंट लिया और बोले, “आज फार मजा आला. तंबूरंही छान लागले होते.”। और बाद में वह चेक आहिस्ते फाड़ते हुए उन्होंने कहा, “हिसाब करने के लिये वामनराव को गाना बजाना याने क्या बाटलीबॉय का हॉपिस लगा?”

मेरे बंबई लौटने के बाद भी मुकुल हमारे घर साल देढ साल रहा। कुमारजी घर में ठहरते ही थे, मैं देवास जाता रहता था और अन्य शहरों में उनके कार्यक्रमों के लिये मैं जाता ही था। इस तरह संबंध बना रहा। इस दौरान मैं २-३ बार युरोप और अमेरिका जा आया। तानसेन समारोह में गाया। सवाई गंधर्व पुण्यतिथी में गाया। छोटे-बड़े कार्यक्रम होते रहे।

अलग अलग घरानों की गायकी का प्रतिनिधित्व करने वाले ध्वनिमुद्रणों का, विद्यमान गायकों को record करके और पुरानी recordings इकट्ठा कर के एक archives बनाया जाए, जो उभरते हुए कलाकारों के लिये educational aid साबित हो, इस मकसद से मैंने Xavier's College में Indian Music Group की स्थापना की। दो साल तक वहां तनखा ली। पर वह ग्रूप यह ध्येय हासिल करने की प्रामाणिक इच्छा नहीं रख पाया, तब वह नौकरी मैंने छोड़ दी। बचपन के गुणीजनों से मेरे interactions चल ही रहे थे। कुमारजी के गुरुबंधू बाबूराव रेळे अपना वकालत का पेशा छोड़ कर फिर से देवधरजी के पास गाना सीखने जा रहे थे। इसकी बदौलत मुझे मेरी गुरुपरंपरा की जड़ों तक फिर से अवगाहन करने का मौका मिला। बाबूरावजी की तुमरी का आज भी मैं आशिक हूँ।

हॉलंड में तब स्थित जमालउद्दीन भरतीया से मूझे अमीर खां के गाने का environment, Amsterdam में मिला। अमीर खां का मिजाज़, उनके मेरखंड का सौंदर्यतत्व, असकी बारीकियाँ समझी। मेरे हम उम्र उभरते कलाकारों को मंच देने के उद्देश्य से १९८३ में मैंने संवाद फाउंडेशन की स्थापना की थी। इसी संस्था को १९८८ में Ford Foundation का अनुदान मिला, “उत्तर भारतीय कंठ संगीत की नष्ट होनेवाली

परंपराओं का ध्वनिमुद्रण कर उन्हें जतन करने के लिये”। इस का कारण था दिल्ली के I.I.C. में तब आयोजित मेरी एक महफिल, जिसमें मैंने एक ही राग अथवा बंदिश अलग अलग घरानों के लोग या घरानों में न समानेवाले प्रतिभाशाली कलाकार कैसे गाते हैं, इसका दिया हुआ सोदाहरण प्रात्यक्षिक। इस महफिल में उपस्थित Ford Foundation के representative ने मुझे इन बातों पर आधारित एक project बनाने कहा, और वह हकीकत में उतर आया। मैंने वाळकेश्वर रोड, मुंबई स्थित मेरी सदनिका studio, research center में परिवर्तित की और हमारी संस्था में बड़ी लगन से कंठसंगीत के सभी गुणीजनों का ध्वनिमुद्रण किया। मेरे समकालीन ‘अरे यह तो पंडित हो गया’ यह वाक्य ‘अब यह किसी काम का नहीं रहा’ इस अर्थछटा से कहने लगे थे।

*‘इश्क ने ग़ालिब निकम्मा कर दिया  
वरना हम भी आदमी थे काम के’*

‘कुमारजी ने परंपरा का निचोड़ निकाला है, सार निकाला है तो उन पुराने भंडारों में ताकने की अब हमें कोई ज़रूरत नहीं’, ऐसा थोड़ा बहुत मौसम आस पास बन चुका था। ठीक इसी समय सभी परंपराओं की जड़ तक पहुंचकर उनकी बारीकियों का सूक्ष्मता से अभ्यास करने का सुनहरा मौका मेरे प्राक्तन में लिखा था। संगीत के मेरे विचारों का फिर से मंथन होने लगा और नए मतीतार्थ उपजने लगे।

*‘निरख रंग नीको,  
घोल निज घट को  
चढे तो रंग लागे फीको  
औरन के घट को’*

उत्तर भारतीय संगीत दाक्षिणात्य कृती की भांति अथवा western music की symphony की भांति पूर्वनिश्चित नहीं है। भारत के दो तिहाई हिस्सों में यह संगीत गाया जा रहा है। राग ताल के उन्हीं नियमों का पालन करते हुए उसी राग, उसी बंदिश के गायन में भारत में पाई जानेवाली प्रांतीय socio-economic cultural patterns की विविधता के फलस्वरूप विभिन्न interpretations होते हैं। भिन्न कलामूल्य एवं सौंदर्यशास्त्र प्रस्थापित होते हैं। इसी का तौलनिक अभ्यास इस archive की उपलब्धी है।

गुरु-शिष्य परंपरा की आज बनी हुई क्षीण स्थिती में यह archive संगीत साधकों के लिये उपयुक्त साबित हो रहा है। आज की तारीख में मुझे भी अगर मध्यलय नये अंदाज़ से गाना हो तो मैं इस archive से फ़ैयाज़ खां, वसंतराव देशपांडे, अमीर खां और भिंडीबाज़ार घराने के गायकों की मध्यलय सुनता हूँ। इन गायकों की मुझे ज्ञात भावभूमी में जाकर और उनके इतिहास को जीवित कर के उनका गाना सुनता हूँ। इन बुजुर्गों का गाना पसंद करने वाला समाज उस ज़माने में उनके संगीत को क्यों अच्छा समझता था? इसकी जानकारी होनी चाहिये इसकी समझ मुझे आई है। यह सब सुनकर कभी लगता है कि गाना बेकार है, उन लोगों के स्तर का मुझसे कुछ बन नहीं सकता। तो कभी अकस्मात कुछ नए अंदाज़, शक्यताएं अपना पट खोलती हैं।

बंदिश के पट उपज अंग से खोलकर ही तो उसकी संदिग्धता हटती है...पिया मिल जाते हैं ... कभी यथार्थ की नापतौल करते हुए तो कभी रसजन्य किसी अन्य भाव में विभोर!

इन विभिन्न प्रतिभाओं से पाला पड़ा रहने से मुझे मेरी सांगितिक मनोवृत्ती की

अधिक स्पष्ट पहचान हो पायी है। गाते समय एक से अधिक भूमिकाओं में सहजावस्था से प्रवेश किया जा सकता है और बाहर भी निकला जा सकता है। यह एक तसल्ली देने वाली बात भी बन जाती है और आत्मशोध के लिये स्वयं को निरंतर त्रस्त, परेशान रखने का इंतज़ाम भी यहां हो जाता है, इसकी भी मुझे खुशी है।

*हिज़्र में शाद, वस्ल में नाशाद  
क्या तबियत जिगर ने पायी है।*

विगत वर्ष मा. दीनानाथ मंगेशकर स्मृति प्रतिष्ठान ने मेरी स्वरचित और संवाद फाउंडेशन के archives में से चुनिंदा बंदिशों की दो C.D.s का संचय प्रकाशित किया। इसकी भूमिका को अपनी बात बनाकर लताजी ने C.D.s में इसका परिचय भी दिया है। इन C.D.s का विमोचन लताजी के करकमलों द्वारा मा. दीनानाथ मंगेशकर पुण्यतिथी के विराट समारोह में हुआ। इतने बड़े सम्मान के काबिल मैं रहूँ ऐसा ही काम भविष्य में मैं कर पा सकूँ यही प्रामाणिक इच्छा है।

मेरे घर में एक आरामकुर्सी (easy chair) है। बाटलीबॉय & पुरोहित के दफ्तर में वामनरावजी उसमें बैठकर बीस मिनट का siesta लेते थे। यही कुर्सी वे आगे जाकर घर ले आए। इस कुर्सी में, पीठ न टेकते हुए पद्मासन लगाकर कुमारजी का और अन्य बहुत से कलाकारों का, रसिकों का, विचारवंतों का कभी उत्कट तो कभी खूंसट, उदंडता से भरपूर बर्ताव, बतियाना, गाना वामनरावजी एक आंतरिक प्रसन्नता से और सहिष्णुता से सुन लेते थे। हमारे फ़मिली डाक्टर कीर्तने जी से कह कर, कंपाउंडर कौम जिसे इस्तमाल किया करती थी, वह हथेलीभर ऊंचा, ग्लासनुमा एक measuring unit उन्होंने हासिल किया था। उसमें शाम के साढ़ेसात से सवा आठ और सवा आठ से नौ ऐसे दो आवर्तनों में scotch whisky के दो small pegs का एक के बाद

एक वे सेवन करते थे। यह प्राशन कर्म जब जारी रहता था तब बारी बारी से वे कभी उस measuring unit की ओर तो कभी घड़ी की ओर ताकते रहते थे। (इस बारे में पु.ल. देशपांडे ने कहा था कि “वामनरावजी, आनंद की मात्रा कहीं अधिक न हो, इसलिये बहुत सतर्कता बरतते हैं।)

उनका संतुलन बना रहता था। किसी बात पर खुदको एकदम से न्योछावर न करने वाली और खुद को त्रस्त न करने वाली उनकी तटस्थ रसिकता मुझे अच्छी कलाके आविष्कार के तुल्यबल लगती है।

वह कुर्सी मैंने मेरे पूना के बड़े घर में या उससे भी बड़े बगीचे में कहीं भी रखी तो वह सही ठिकाने लगी है ऐसा मुझे लगता नहीं है। मैं उसे उठाकर यहां से वहां पटकता रहता हूँ। वैसे हल्की है। उसमें बैठूँ तो पीठ लगाकर लुढ़क जाऊँ या मेरुदंड को सीधा रख कर आसनस्थ बैठूँ इस संभ्रम ही में मैं रहता हूँ और आराम करना दुष्वार हो जाता है। आज कुमारजी भी नहीं रहे और वामनरावजी भी नहीं हैं। शांत बैठूँ तो उनकी स्मृतियों की झनकार अनहद में सुनाई देती है और उस कुर्सी को देखकर मन में खयाल आता है,

*ये क्या मकामे इश्क है ज़ालिम,  
के इन दिनो  
अक्सर तेरे बग़ैर भी आराम आ गया।*